गान्धी जन्म - शताब्दी

मेरे सपनों का भारत

जन्म-शताब्दी संस्करण

मेरे सपनों का भारत

(संक्षिप्त)

लेखक

मो० क० गांधी

सम्पादक

सिद्धराज ढड्ढा

गांधी स्मारक निधि और गांधी शान्ति प्रतिष्ठान
के सहयोग से तथा
नवजीवन ट्रस्ट के सौजन्य से
सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक : मन्त्री, सर्व सेवा संघ, वाराणसी
प्रतियाँ : १,००,०००; २ अक्तूबर, १९६९
मुद्रक : नरेन्द्र भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
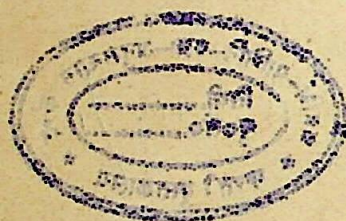
नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद

देशका बँटवारा होते हुए भी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसद्वारा मुहैया किये गये साधनोंके जरिये हिन्दुस्तानको आजादी मिल जानेके कारण मौजूदा स्वरूप-वाली कांग्रेसका काम अब खतम हुआ—यानी प्रचारके वाहन और धारासभाकी प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्रके नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गयी है। शहरों और कसवोंसे भिन्न उसके सात लाख गाँवोंकी दृष्टिसे हिन्दुस्तानकी सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाहीके मकसदकी तरफ हिन्दुस्तानकी प्रगतिके दरमियान फौजी सत्तापर मुल्की सत्ताको प्रधानता देनेकी लड़ाई अनिवार्य है। कांग्रेसको हमें राजनीतिक पार्टियों और साम्प्रदायिक संस्थाओंके साथकी गन्दी होड़से बचाना चाहिए। इन और ऐसे ही दूसरे कारणोंसे अखिल भारत कांग्रेस कमेटी नीचे दिये हुए नियमोंके मुताबिक अपनी मौजूदा संस्थाको तोड़ने और लोक-सेवक-संघके रूपमें प्रकट होनेका निश्चय करे। जरूरतके मुताबिक इन नियमोंमें फेरफार करनेका इस संघको अधिकार रहेगा।

गाँववाले या गाँववालोंके जैसी मनोवृत्तिवाले पाँच वयस्क पुरुषों या स्त्रियोंकी बनी हुई हरएक पंचायत एक इकाई बनेगी।

पास-पासकी ऐसी हर दो पंचायतोंकी, उन्हींमेंसे चुने हुए एक नेताकी रह-नुमाईमें, एक काम करनेवाली पार्टी बनेगी।

जब ऐसी १०० पंचायतें बन जायँ, तब पहले दरजेके पचास नेता अपनेमेंसे दूसरे दरजेका एक नेता चुनें और इस तरह पहले दरजेका नेता दूसरे दरजेके नेताके मातहत काम करे। दो सौ पंचायतोंके ऐसे जोड़ कायम करना तबतक जारी रखा जाय, जबतक कि वे पूरे हिन्दुस्तानको न ढँक लें। और बादमें कायम की गयी पंचायतोंका हरएक समूह पहलेकी तरह दूसरे दरजेका नेता चुनता जाय। दूसरे दरजेके नेता सारे हिन्दुस्तानके लिए सम्मिलित रीतिसे काम करें और अपने-अपने प्रदेशोंमें अलग-अलग काम करें। जब जरूरत महसूस हो, तब दूसरे दरजेके नेता अपनेमेंसे एक मुखिया चुनें, और वह मुखिया चुननेवाले चाहें तबतक सब समूहोंको व्यवस्थित करके उनकी रहनुमाई करें।

२९-१-'४८

—गांधीजीका आखिरी वसीयतनामा
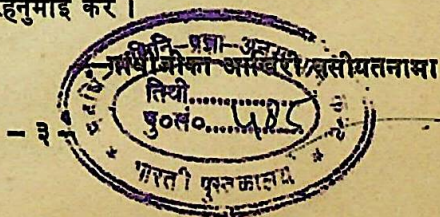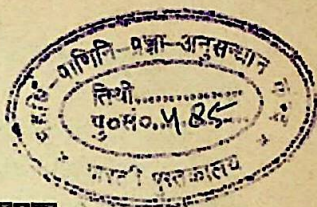
बापूके सपनोंका भारत

मेरी दृष्टिमें गांधी-शताब्दीका वर्ष हमारे लिए ईश्वरका दिया हुआ एक स्वर्ण अवसर है। यदि हम अपनी विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओंको हल करनेके लिए एक बार फिर महात्मा गांधीके विचारोंका गम्भीर चिन्तन करें तो हम आज भी कई जटिल सवालोंको हल करनेमें सफल हो सकते हैं। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि गांधी-शताब्दीके अवसरका लाभ उठाकर हम पूज्य बापूजीके विचारोंका सारे देशमें व्यापक प्रचार करें। इस दृष्टिसे मैं सर्व सेवा संघकी 'गांधी-जन्म-शताब्दी सर्वोदय-साहित्य-योजना' का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

'मेरे सपनोंका भारत' पुस्तक कई वर्ष पहले नवजीवन ट्रस्ट-द्वारा प्रकाशित की गयी थी और उसका सम्पादन श्री आर० के० प्रभुने बड़ी योग्यतासे किया था। इसी पुस्तकको अब सर्व सेवा संघ-द्वारा कुछ संक्षिप्त रूपमें जनताके अधिक व्यापक उपयोगके लिए प्रकाशित किया जा रहा है। इस पुस्तकमें विभिन्न विषयोंपर जाहिर किये गये गांधीजीके बुनियादी विचारोंका संकलन किया गया है। देशके जिन नवयुवकोंने स्वतन्त्र भारतमें जन्म लिया है, उन्हें बापूको देखने या सुननेका अवसर नहीं मिला। उन्होंने उनके विचारों व आदर्शोंके बारेमें भी बहुत कम पढ़ा है; उसपर चिन्तन करनेका तो उन्हें विशेष मौका ही नहीं मिला है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस पुस्तकद्वारा राष्ट्रपिताके विचारोंको हमारे नवयुवकोंतक खास तौरपर पहुँचाया जाय, ताकि वे उन्हें

पढ़कर बापूके सपनोंके अनुसार नये भारतको बनानेमें सक्रिय हिस्सा ले सकें।

संक्षेपमें, बापूके बुनियादी विचार क्या थे? गांधीजी भारतके प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त करते थे, क्योंकि वे इस देशसे बड़ी आशाएँ रखते थे। उनकी नजरमें भारत एक 'कर्मभूमि' है, 'भोग-भूमि' नहीं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि 'भारत अपनी अहिंसाके जरिये सारे विश्वके लिए शान्तिके दूतका काम करे।' उनका दृढ़ विश्वास था कि 'भारतका भविष्य पश्चिमके उस रक्त-रंजित मार्गपर नहीं है, जिसपर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है, उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवनद्वारा प्राप्त शान्तिके अहिंसक रास्तेपर चलनेमें ही है।' बापूने हमेशा साधनोंकी शुद्धिपर बहुत जोर दिया। उन्होंने अपनी आत्मकथाको भी 'सत्यके प्रयोग' शीर्षक दिया। वे स्वराज्यके लिए भी असत्य और हिंसाका प्रयोग निषिद्ध समझते थे। उन्होंने कई बार कहा था कि मैं भारतकी आजादीके लिए सब-कुछ त्यागनेको तैयार हूँ, किन्तु सत्य और अहिंसाको नहीं। वे 'सादा जीवन और उच्च चिन्तन' के आदर्शको ही सर्वोपरि मानते थे।

गांधीजी अक्सर कहा करते थे, 'स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-संयम है।' इसलिए सच्चा स्वराज्य हमारी 'आन्तरिक शान्ति' पर निर्भर करता है। बापू हमें बार-बार समझाते थे कि 'यदि स्वराज्य हो जानेपर लोग अपने जीवनकी हर छोटी बातके नियमनके लिए सरकारका मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी कामकी नहीं होगी।' उनकी आकांक्षा थी कि 'स्वतन्त्र भारतमें गरीब-से-गरीब लोग भी यह महसूस करें कि वह उनका देश है और उसके निर्माणमें उनकी आवाजका महत्त्व है।' इस प्रकारका स्वराज्य तभी स्थापित हो सकता है, जब कि समाज सत्य और अहिंसाके शुद्ध साधनोंका ही उपयोग करे और जनताका पारस्परिक सहयोग और सद्भाव हो। गांधीजीने बुलन्द
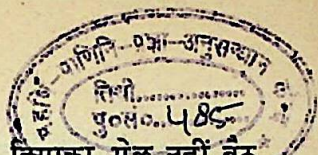
आवाजसे कहा था कि 'लोकतन्त्र और हिंसाका मेल नहीं बैठ सकता।' सच्चे प्रजातन्त्रमें 'नीचेसे नीचे और ऊँचेसे ऊँचे आदमी-को समान अवसर मिलने चाहिए।' इसीलिए 'सच्ची लोकशाही केन्द्रमें बैठे हुए दस-बीस आदमी नहीं चला सकते, वह तो नीचेसे हरएक गाँवके लोगोंद्वारा चलायी जानी चाहिए।' इस दृष्टिसे बापू ग्राम-पंचायतोंके विकासके लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होंने असंख्य बार दोहराया था कि 'भारत अपने चन्द शहरोंमें नहीं, बल्कि अपने सात लाख गाँवोंमें बसा हुआ है।' जबतक हमारे गाँवोंका समग्र दृष्टिसे समुचित विकास नहीं किया जायगा, तब-तक बापूके सपनोंके भारतका निर्माण करना अशक्य होगा।

बापू चाहते थे कि ग्राम-स्वराज्य एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र हो, जिसमें हमारी बुनियादी जरूरतें स्वावलम्बनके आधारपर पूरी की जा सकें, और अन्न व वस्त्रके लिए दूसरोंपर निर्भर न रहना पड़े। वे चाहते थे कि हरएक गाँवमें एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहे, सभीके लिए पीनेके पानीका इन्तजाम हो, बुनियादी तालीम सब बच्चोंके लिए उपलब्ध हो और गाँवोंके सारे काम सहयोगके आधारपर किये जायँ। ग्राम-समाजमें जाति-पाँति और अस्पृश्यता जैसे भेद बिलकुल न रहें, हमारे गाँवोंमें स्वच्छताकी पूरी व्यवस्था रहे, झोपड़ियोंमें पर्याप्त प्रकाश और हवाका प्रबन्ध हो और उनके निर्माणमें स्थानिक सामानका ही यथासम्भव उपयोग किया जाय। खादीके अलावा हमारे गाँवोंमें कुटीर-उद्योगोंको स्थापित किया जाय, ताकि हरएकको अपने जीवन-निर्वाहके लिए रोजगार मिल सके।

अक्सर यह समझा जाता है कि गांधीजी मशीनोंके बिलकुल विरुद्ध थे। यह एक बड़ी गलतफहमी है, जिसे दूर करना चाहिए। बापूने बहुत बार समझाया था कि वे यंत्रोंके विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु 'यंत्रोंके दीवानेपन' के खिलाफ हैं। उन्होंने कई बार लिखा था, 'यंत्रोंसे काम लेना उसी अवस्थामें अच्छा होता है, जब किसी निर्धारित कामको पूरा करनेके लिए आदमी बहुत ही कम हों।'

लेकिन भारत जैसे देशमें तो लाखों-करोड़ों लोग बेकार हैं, ऐसी अवस्थामें यंत्रीकरणसे यहाँकी बेकारी और बढ़ेगी। विदेशोंमें बेकार लोगोंको घर-बैठे 'डोल' या भत्ता दिया जाता है। किन्तु भारत जैसे गरीब देशमें इस प्रकार रुपया खर्च करनेसे तो देशका दिवाला निकल जायगा। इस परिस्थितिमें लोगोंको विकेन्द्रित उद्योगोंद्वारा काम देकर रोजी देना ही एक व्यावहारिक योजना मानी जा सकती है। गांधीजी यह मानते थे कि भारतके आर्थिक संयोजनमें कुछ बड़े पैमानेके उद्योगोंको भी स्थान देना होगा। लेकिन उनकी धारणा थी कि इस प्रकारके बड़े उद्योगोंकी मालिकी राज्यकी हो, व्यक्तियोंकी नहीं।

बापू चाहते थे कि भारत एक 'सेक्यूलर स्टेट' बने और उसमें सभी धर्मोंके प्रति समान आदर हो। 'सेक्यूलर' का यह कदापि अर्थ नहीं कि देशमें मजहबका स्थान न हो· उसका सच्चा अर्थ 'सर्वधर्म-समभाव' ही हो सकता है। गांधीजीने ऊँची आवाजसे दोहराया था कि 'कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य तो ज्यादा संख्यावाले समाजका यानी हिन्दुओंका ही राज्य होगा, लेकिन इस मान्यतासे ज्यादा बड़ी कोई दूसरी गलती नहीं हो सकती।' 'मेरे लिए 'हिन्द स्वराज्य' का अर्थ सब लोगोंका राज्य, न्याय का राज्य है।' वह 'गरीबोंका राज्य होगा, जिसमें सभी जाति, धर्म व भाषाकी जनताको बराबरीका स्थान होगा। उसमें न कोई नंगा-भूखा रहेगा, न कोई बे-पढ़ा-लिखा होगा, न कोई बे-रोजगार होगा। उसमें किसी भी तरहका भेद-भाव नहीं रहना चाहिए।

गांधीजीका 'सर्वोदय'-समाज सत्य और अहिंसापर ही आधारित हो सकता है। उनकी रायमें वर्तमान साम्यवाद और समाजवाद भी हिंसा व वर्ग-कलहकी बुनियादपर रचा जाता है। इस प्रकारका समाजवाद भारतके लिए उपयुक्त नहीं है। भारतीय समाजवाद या साम्यवाद तो ईशोपनिषद्के पहले ही श्लोकमें स्पष्ट रूपसे मिल जाता है :

'ईशावास्यम् इदम् सर्वम्
यत् किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः
मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥'*

इसीलिए बापू पश्चिमके सिद्धान्तोंपर आधारित साम्यवाद-के बिलकुल खिलाफ थे। यद्यपि सर्वोदय और साम्यवादके अन्तिम ध्येय समान हैं, फिर भी उनके काम करनेके तरीके मूलतः भिन्न हैं। भारतका संयोजन आर्थिक व आध्यात्मिक सन्तुलित विकासकी बुनियादपर ही निर्मित किया जाना चाहिए।

इस संकलनमें इन सभी विषयोंपर महात्मा गांधीके विचारोंका उन्हींकी भाषामें विवेचन किया गया है। इसमें बापूके रचनात्मक कार्यक्रमके विविध पहलुओंपर भी बहुत उपयोगी विचार संग्रहीत हैं। खादी, ग्रामोद्योग, गो-सेवा, राष्ट्र-भाषा, मद्य-निषेध, बुनियादी शिक्षा और अस्पृश्यताके सम्बन्धमें बापूके विचार काफी विस्तारसे दिये गये हैं। स्त्री-शक्ति, शान्ति-सेना और सत्याग्रहके बारेमें गांधीजीका दृष्टिकोण समझनेमें भी इस पुस्तकसे बहुत सहायता मिलेगी। मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकाशनका सारे भारतमें और विशेषकर हिन्दी-भाषी क्षेत्रोंमें समुचित स्वागत किया जायगा।

राजभवन, अहमदाबाद
२ अगस्त, १९६९

—श्रीमन्नारायण

---

* ईशका आवास यह सारा जगत्,
जीवन यहाँ जो कुछ उसीसे व्याप्त है।
अतएव करके त्याग उसके नामसे
तू भोगकर उसका, तुझे जो प्राप्त है।

सम्पादककी ओरसे

कुछ दिन पहले राजस्थान-विश्वविद्यालयमें अध्ययन कर रहे विदेशी युवक-युवतियोंको गांधीजीके विचार और व्यक्तित्वके बारेमें सम्बोधित करनेके लिए राजस्थान-सरकारके सूचना-विभागने मुझे बुलाया था। एशिया, अफ्रीका आदि नवोदित राष्ट्रोंके ४०-५० नौजवान स्त्री-पुरुष उस बैठकमें सम्मिलित थे। अपनी बात कहनेसे पहले मैंने उन नौजवानोंसे पूछा कि उनके खयालसे गांधीजीके जीवनका सबसे बड़ा काम क्या था! लगभग हरएकने एक ही बात कही कि वे हिन्दुस्तानकी आजादीकी लड़ाईके नेता थे और उन्होंने भारतको आजाद किया। जब मैंने उनको बताया कि गांधीजीकी अपनी दृष्टिमें, जैसा उन्होंने 'आत्मकथा' की अपनी भूमिकामें लिखा है, यह काम कम-से-कम कीमत रखता था, और सत्याचरणके अपने आध्यात्मिक प्रयोगोंके साथ-साथ गांधीजीके जीवन और विचारोंका एक महत्त्वपूर्ण पहलू आजकी दुनियाकी उलझनभरी समस्याओंसे सम्बन्धित था, तो उन्हें कुछ अचम्भा हुआ। उनके सामने गांधीजीके विचारोंका यह पहलू कभी नहीं आया था, बल्कि वे उसी भ्रममें पले थे, जिस भ्रमको हममेंसे बहुतसे सेते हैं, कि गांधीजीने भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्रामका नेतृत्व किया, पर जहाँतक आजकी आर्थिक-राजनैतिक समस्याओंका प्रश्न है, उनके विचार पुराने जमानेके थे। आजकी दुनियाके लिए वे अप्रासंगिक हैं।

गांधीजीका जीवन निरन्तर और आग्रहपूर्वक सत्यके आचरणमें लगी हुई आत्माकी अखण्ड यात्रा थी। पर उनका सत्याचरण

केवल निजी मुक्तिके लिए नहीं था। उनका सारा जीवन सामाजिक अन्याय, आर्थिक विषमता, शोषण, गरीबी और ऊँच-नीचके भेदभावके खिलाफ सतत संघर्ष था, क्योंकि ये सब असत्यके ही रूप या उसकी सन्तान हैं। भारतकी राजनीतिक आजादी इस अन्यायको दूर करनेके लिए पहला कदम था। गांधीजीके लिए आजादी अपने-आपमें कोई साध्य नहीं था, पर भारतकी दलित और पीड़ित जनताके त्राणका साधन था।

आजके युगमें गरीबोंके वोट या उनका समर्थन तो सबको चाहिए। इसलिए गरीबी और अन्याय मिटानेका जाप सब करते हैं; लेकिन जहाँतक क्रियाका संबंध है, टॉल्स्टॉयके शब्दोंमें, 'हम सब कुछ करनेको तैयार हैं, सिवा गरीबोंकी पीठपरसे उतरनेके।' जाने-अनजाने, "भद्र" और "प्रबुद्ध" कहे जानेवाले हम सब लोगोंका यह निहित स्वार्थ बन गया है। इसके कारण गरीबी और अन्यायको मिटानेके सीधे और सरल उपाय भी हमें अव्यावहारिक मालूम पड़ते हैं। गांधीजीके सामने ध्येय और मार्ग दोनों स्पष्ट थे। उन्होंने अनेक बार इस बातको दोहराया कि उनके लिए उस आजादीका कोई मूल्य नहीं है, जिसमें सबसे पीड़ित और सबसे कमजोरको शोषण और अन्यायसे मुक्ति न मिले और वे यह महसूस न करें कि यह उनका देश है। "मेरे सपनोंका स्वराज्य तो गरीबोंका स्वराज्य होगा"—ऐसा वे कहा करते थे। इस ध्येयकी पूर्तिका मार्ग भी उनके सामने स्पष्ट था। "मेरी मान्यता है कि सत्य और अहिंसाके बिना मनुष्य-जातिका विनाश हो जायगा। और सत्य-अहिंसाको हम ग्रामीण जीवनकी सादगीमें ही प्राप्त कर सकते हैं।···सच तो यह है कि हमें गाँवोंवाले भारत और शहरोंवाले भारत—इन दोमेंसे एकको चुन लेना है।" उनकी कल्पना थी कि हर गाँव "पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतोंके लिए अपने पड़ोसीपर भी निर्भर नहीं करेगा।"

पर इसके विपरीत पं० जवाहरलाल नेहरूका ध्यान बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों और विराट् योजनाओंके जरिये उत्पादन बढ़ाने तथा

राज्यकी शक्तिके द्वारा सामाजिक न्याय स्थापित करनेकी ओर था। जब आजादी सन्निकट थी, तब गांधीजीने गंभीरताके साथ इस प्रश्नकी चर्चा कांग्रेसकी वर्किंग कमेटीमें उठायी। कमेटीकी चर्चामें चूँकि पूरी सफाई होना संभव नहीं था, इसलिए फिर उन्होंने इस विषयपर पं० नेहरूसे पत्र-व्यवहार किया। अक्तूबर १९४५ के आरम्भमें उन्होंने एक पत्रमें पंडितजीको लिखा-"हम लोगोंके दृष्टिकोणमें जो अन्तर है उसके बारेमें मैं लिखना चाहता हूँ। अगर वह अन्तर बुनियादी है तो ··· जनताको उसकी जानकारी होनी चाहिए। इस बारेमें उनको अँधेरेमें रखना स्वराज्यके हमारे कामके लिए हानिकर होगा।" अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा--"मेरी दृढ़ मान्यता है कि अगर भारतको सच्ची आजादी प्राप्त करनी है, और भारतके जरिये संसारको भी, तो आगे या पीछे हमें यह समझ लेना होगा कि जनताको गाँवोंमें ही रहना है शहरोंमें नहीं; झोपड़ियोंमें रहना है, महलोंमें नहीं। करोड़ों लोग शहरों या महलोंमें कभी एक-दूसरेके साथ शांतिपूर्वक नहीं रह सकते। उस परिस्थितिमें उनके पास सिवा इसके कोई चारा नहीं होगा कि वे हिंसा और असत्य, दोनोंका सहारा लें।"

देशका यह सौभाग्य नहीं था कि आजादीके नेता और उनके राजनैतिक उत्तराधिकारीके बीच दृष्टिकोणका यह अन्तर दूर नहीं हो पाया। आजादीके चंद दिनों बाद ही गांधीजी हमारे बीचसे उठ गये। उसके बाद इन पिछले २०-२२ बरसोंमें भारत-सरकारकी नीति और योजनाओंके कारण देशकी जो स्थिति बनी है, वह किसीसे छिपी नहीं है। प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती।

हमने गांधीजीको राष्ट्रपिता कहकर उनके चित्रों, मूर्तियों आदिकी पूजा तो शुरू की; लेकिन प्रचलित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ उन्होंने जो बुनियादी विचार दिया था, उसको हमने परदेके पीछे ढकेल दिया। नतीजा यह हुआ कि नयी पीढ़ी

गांधी-विचारके इस क्रान्तिकारी पहलूसे, जो स्वयं गांधीजीके शब्दोंमें, भारत ही नहीं सारी दुनियाकी सच्ची आजादीके लिए अनिवार्य है, अपरिचित रही। आजाद भारतसे गांधीजीने क्या आशा रखी थी और उससे उनकी क्या अपेक्षा थी, वह विस्मृतिके गालमें चला गया। पिछले वर्षोंके संसारव्यापी युवक-विद्रोहने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि नयी पीढ़ी दुनियाकी मौजूदा व्यवस्था, तरीकों और मूल्योंसे उकता गयी है। अब वह और ज्यादा बर्दाश्त करना नहीं चाहती। लेकिन जीवनके सीधे-सादे सिद्धान्तोंका उसे भान न होनेके कारण वह केवल पुरानी व्यवस्थाको तोड़-फोड़कर अपना गुस्सा शान्त कर रही है, जो बिलकुल स्वाभाविक है। हो सकता है कि अन्ततोगत्वा यह भी भ्रम साबित हो; लेकिन मेरे जैसे व्यक्तिको लगता है कि शायद समाज-रचनाके बारेमें गांधीजीके सीधे-सादे नुस्खे, और अन्यायके प्रतीकार तथा समाज-परिवर्तनके बारेमें उनके क्रान्तिकारी विचारोंसे दुनियाकी नौजवान पीढ़ीको प्रकाश मिले। गांधीके विचार कितने मौलिक और क्रान्तिकारी थे, इसका सबूत उससे बढ़कर क्या होगा जो आइन्स्टीन जैसे विश्व-विख्यात वैज्ञानिकने उनके बारे में कहा था—**"सदियों बाद आनेवाली पीढ़ियाँ शायद इस बातपर आश्चर्य करेंगी कि हाड़-मांसका ऐसा पुतला भी कभी इस पृथ्वीपर चला था।"**

गांधीजीकी दृष्टिमें आजाद भारतका क्या मिशन था और उसके जरिये शोषण और विषमतासे तथा अन्याय और गरीबीसे त्रस्त मानव-जातिके लिए वे क्या सन्देश देनेकी कल्पना रखते थे, यह उन्हींके शब्दोंमें इस छोटी-सी पुस्तकमें संकलित है। स्वर्गीय श्री आर० के० प्रभुद्वारा संग्रहीत गांधीजीके 'मेरे सपनोंका भारत' का यह एक तरहसे संक्षिप्त संस्करण है। लेकिन विचारोंको श्रृंखलाबद्ध पेश करनेकी दृष्टिसे उन संग्रहीत विचारोंका पुनर्वर्गीकरण और सम्पादन नये सिरेसे किया गया है। इस काममें जो समय, शक्ति लगी, उसका मुआवजा मेरे अपने

विचारोंकी सफाई और पुष्टिके रूपमें मुझे पर्याप्त मात्रामें मिल चुका है। पर पुरानी पीढ़ीने गांधीजीका जो चित्र पेश किया है, उसे भूलकर अगर आजकी नयी पीढ़ी गांधीजीके खुदके शब्दोंमें गांधीजीके इन विचारोंको समझनेकी कोशिश करेगी, तो उन्हें भी आजके अन्धकारमय वातावरणमें शायद कुछ प्रकाश मिलेगा।

मानव चन्द्र-यात्रा दिवस

२१ जुलाई, १९६९

–सिद्धराज ढड्ढा

अनुक्रम

१. भारत और उसका सन्देश

भारत मेरे लिए दुनियाका सबसे प्यारा देश है, इसलिए नहीं कि वह मेरा देश है, लेकिन इसलिए कि मैंने इसमें उत्कृष्ट अच्छाईका दर्शन किया है।[१] भारतकी हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षाएँ रखनेवाले किसी व्यक्तिको अपने विकासके लिए जो कुछ चाहिए, वह सब उसे भारतमें मिल सकता है।[२]

भारत अपने मूल स्वरूपमें कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं।[३]

भारत दुनियाके उन इने-गिने देशोंमेंसे है, जिन्होंने अपनी अधिकांश पुरानी संस्थाओंको, यद्यपि उनपर अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रान्तियोंकी काई चढ़ गयी है, कायम रखा है। साथ ही वह अभीतक अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रान्तियोंकी इस काईको दूर करनेकी, और इस तरह अपना शुद्ध रूप प्रकट करनेकी, अपनी सहज क्षमता भी रखता है।[४]

मैं भारतकी भक्ति करता हूँ, क्योंकि मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब उसी-का दिया हुआ है। मेरा पूरा विश्वास है कि उसके पास सारी दुनियाके लिए एक सन्देश है। उसे यूरोपका अन्धानुकरण नहीं करना है।[५] मेरा विश्वास है कि भारतका ध्येय दूसरे देशोंके ध्येयसे कुछ अलग है। भारतमें ऐसी योग्यता है कि वह धर्मके क्षेत्रमें दुनियामें सबसे बड़ा हो सकता है। भारतने आत्मशुद्धिके लिए स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनियामें कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। भारतको फौलादके हथियारोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है, वह दैवी हथियारोंसे लड़ा है और आज भी वह उन्हीं हथियारोंसे लड़ सकता है। दूसरे देश पशुबलके पुजारी रहे हैं।.... भारत अपने आत्मबलसे सबको जीत सकता है। इतिहास इस सचाईके चाहे जितने प्रमाण दे सकता है कि पशुबल आत्मबलकी तुलनामें कुछ नहीं है।[६]

मैं यह सोचना पसंद करूँगा कि भारत अपनी अहिंसाके जरिये सारे विश्वके लिए शांतिके दूतका काम करे।[७].... भारतका भविष्य पश्चिमके उस रक्त-रंजित मार्गपर नहीं है, जिसपर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है, उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवनद्वारा प्राप्त शान्तिके अहिंसक रास्तेपर चलनेमें ही है। भारतके सामने इस समय अपनी आत्माको खोनेका खतरा उपस्थित है। और यह संभव नहीं है कि अपनी आत्माको खोकर भी वह जीवित रह सके। इसलिए आलसीकी तरह उसे लाचारी प्रकट करते हुए ऐसा नहीं कहना चाहिए

कि 'पश्चिमकी इस बाढ़से मैं बच नहीं सकता ।' अपनी और दुनियाकी भलाई-के लिए उस बाढ़को रोकने योग्य शक्तिशाली तो उसे बनना ही होगा ।[८] .... मैं भारतको स्वतंत्र और बलवान् बना हुआ देखना चाहता हूँ, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वह दुनियाके भलेके लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी पवित्र आहुति दे सके ।[९]

पश्चिमकी नकल

मैं यह मानने जितना नम्र तो हूँ ही कि पश्चिमके पास बहुत-कुछ ऐसा है, जिसे हम उससे ले सकते हैं, पचा सकते हैं और लाभान्वित हो सकते हैं । ज्ञान किसी एक देश या जातिके एकाधिकारकी वस्तु नहीं है । पाश्चात्य सभ्यताका मेरा विरोध असलमें उस विचारहीन और विवेकहीन नकलका विरोध है, जो यह मानकर की जाती है कि एशिया-निवासी तो पश्चिमसे आनेवाली हरएक चीजकी नकल करने जितनी ही योग्यता रखते हैं ।... मैं दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूँ कि यदि भारतने कष्ट और तपस्याकी आगमेंसे गुजरने जितना धीरज दिखाया और अपनी सभ्यतापर—जो अपूर्ण होते हुए भी अभीतक कालके प्रभाव-को झेल सकी है—किसी भी दिशासे कोई अनुचित आक्रमण न होने दिया, तो वह दुनियाकी शान्ति और ठोस प्रगतिमें स्थायी योगदान कर सकता है ।[१०]

यूरोपीय सभ्यता बेशक यूरोपके निवासियोंके लिए अनुकूल है, लेकिन यदि हमने उसकी नकल करनेकी कोशिश की, तो भारतके लिए उसका अर्थ अपना नाश कर लेना होगा । इसका यह मतलब नहीं कि उसमें जो कुछ अच्छा और हम पचा सकें ऐसा हो, उसे हम लें नहीं या पचायें नहीं । इसी तरह उसका यह मतलब भी नहीं कि उस सभ्यतामें जो दोष घुस गये हैं, उन्हें यूरोपियनोंको दूर नहीं करना पड़ेगा । शारीरिक सुख-सुविधाओंकी सतत खोज और उनकी संख्यामें तेजीसे हो रही वृद्धि ऐसा ही एक दोष है, और मैं साहसपूर्वक यह घोषणा करता हूँ कि जिन सुख-सुविधाओंके वे गुलाम बनते जा रहे हैं, उनके बोझसे यदि उन्हें कुचल नहीं जाना है, तो यूरोपीय लोगोंको अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा । संभव है मेरा यह निष्कर्ष गलत हो, लेकिन यह मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि भारतके लिए इस सुनहले माया-मृगके पीछे दौड़नेका अर्थ आत्मनाशके सिवा और कुछ न होगा । हमें अपने हृदयोंपर एक पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताका यह बोधवाक्य अंकित कर लेना चाहिए—'सादा जीवन और उच्च चिन्तन' । आज तो यह निश्चित है कि हमारे लाखों-करोड़ों लोगोंके लिए सुख-सुविधाओंवाला उच्च जीवन संभव नहीं है और हम मुट्ठीभर लोग, जो सामान्य जनताके लिए चिन्तन करनेका दावा करते हैं, सुख-सुविधाओंवाले उच्च जीवनकी निरर्थक खोजमें उच्च चिन्तनको खोनेकी जोखिम उठा रहे हैं ।[११]

मैंने भारतके समक्ष आत्मत्यागका पुराना आदर्श रखनेका साहस किया है ।

सत्याग्रह और उसकी शाखाएँ, असहयोग और सविनय कानून-भंग, तपस्याके ही दूसरे नाम हैं। इस हिंसामय जगत्में जिन्होंने अहिंसाका नियम ढूंढ़ निकाला, वे ऋषि न्यूटनसे कहीं ज्यादा बड़े आविष्कारक थे। वे वेलिंग्टनसे ज्यादा बड़े योद्धा थे। वे शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जानते थे और उन्हें उनकी व्यर्थताका निश्चय हो गया था। और तब उन्होंने हिंसासे ऊबी हुई दुनियाको सिखाया कि उसे अपनी मुक्तिका रास्ता हिंसामें नहीं, बल्कि अहिंसामें मिलेगा। अपने सक्रिय रूपसे अहिंसाका अर्थ है ज्ञानपूर्वक कष्ट सहना। उसका अर्थ अन्यायीकी इच्छाके आगे दबकर घुटने टेकना नहीं है, उसका अर्थ यह है कि अत्याचारीकी इच्छाके खिलाफ अपनी आत्माकी सारी शक्ति लगा दी जाय। जीवनके इस नियमके अनुसार चलकर तो कोई अकेला आदमी भी अपने सम्मान, धर्म और आत्माकी रक्षाके लिए किसी अन्यायी साम्राज्यके संपूर्ण बलको चुनौती दे सकता है और इस तरह उस साम्राज्यके नाश या सुधारकी नींव रख सकता है। और इसलिए मैं भारतसे अहिंसाको अपनानेके लिए कह रहा हूँ तो उसका कारण यह नहीं है कि भारत कमजोर है। बल्कि मुझे उसके बल और उसकी वीरताका मान है, इसीलिए मैं यह चाहता हूँ कि वह अहिंसाके रास्तेपर चले। उसे अपनी शक्तिको पहचाननेके लिए शस्त्रास्त्रोंकी तालीमकी जरूरत नहीं है। हमें उसकी जरूरत इसलिए मालूम होती है कि हम समझते हैं कि हम शरीर-मात्र हैं। मैं चाहता हूँ कि भारत इस बातको पहचान ले कि वह शरीर नहीं बल्कि अमर आत्मा है, जो हरएक शारीरिक कमजोरीके ऊपर उठ सकती है और सारी दुनियाके सम्मिलित शारीरिक बलको चुनौती दे सकती है।[१२]

भारतकी हिन्दू-मुसलमान, सिख या गुरखा आदि सैनिक जातियोंकी वैयक्तिक वीरता और साहससे यह सिद्ध है कि भारतीय प्रजा कायर नहीं है। मेरा मतलब इतना ही है कि युद्ध और रक्तपात भारतको प्रिय नहीं है। और संभवत: दुनियाके भावी विकासमें उसे कोई ऊँचा हिस्सा अदा करना है। यह तो समय ही बतायेगा कि उसका भविष्य क्या होनेवाला है।[१३]

भारतने कभी किसी राष्ट्रके खिलाफ युद्ध नहीं चलाया। हाँ, शुद्ध आत्मरक्षाके लिए उसने आक्रमणकारियोंके खिलाफ कभी-कभी विरोधका असफल या अधूरा संघटन अवश्य किया है। इसलिए उसे शांतिकी आकांक्षा पैदा करनेकी जरूरत नहीं है। शांतिकी आकांक्षा तो उसमें विपुल मात्रामें मौजूद ही है, भले वह इस बातको जाने या न जाने। शान्तिकी वृद्धिके लिए उसे शांतिमय साधनोंके द्वारा अपने शोषणको रोकनेकी कोशिश करनी चाहिए, यानी उसे शांतिमय साधनोंके द्वारा अपनी स्वतंत्रता हासिल करनी चाहिए। अगर वह सफलतापूर्वक ऐसा कर सके, तो यह विश्वशांतिकी दिशामें उसकी किसी एक देशके द्वारा दी जा सकनेवाली ज्यादा-से-ज्यादा मदद होगी।[१४]

मुझसे कितने ही लोगोंने संदेहसे सिर डुलाते हुए कहा है : 'लेकिन आप सामान्य जनताको अहिंसा नहीं सिखा सकते। अहिंसाका पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं और सो भी विरले व्यक्ति।' मेरी रायमें यह धारणा एक मोटी भूल है। यदि मनुष्य-जाति आदतन् अहिंसक न होती तो उसने युगों पहले अपने हाथों अपना नाश कर लिया होता। लेकिन हिंसा और अहिंसाके पारस्परिक संघर्षमें अन्तमें अहिंसा ही सदा विजयी सिद्ध हुई है। सच तो यह है कि हमने राजनीतिक उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए लोगोंमें अहिंसाकी शिक्षाके प्रसारकी पूरी कोशिश करने जितना धीरज ही कभी प्रकट नहीं किया।[५]

मेरे सपनोंका भारत

मैं ऐसे भारतके लिए कोशिश करूँगा, जिसमें गरीबसे गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है—जिसके निर्माणमें उनकी आवाजका महत्त्व है। मैं ऐसे भारतके लिए कोशिश करूँगा, जिसमें ऊँचे और नीचे वर्गोंका भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायोंमें पूरा मेलजोल होगा। ऐसे भारतमें अस्पृश्यताके या शराब और दूसरी नशीली चीजोंके अभिशापके लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियोंको वही अधिकार होंगे जो पुरुषोंको। चूँकि शेष सारी दुनियाके साथ हमारा सम्बन्ध शान्तिका होगा, यानी न तो हम किसीका शोषण करेंगे और न किसीके द्वारा अपना शोषण होने देंगे, इसलिए हमारी सेना छोटी-से-छोटी होगी। ऐसे सब हितोंका, जिनका करोड़ों मूक लोगोंके हितोंसे कोई विरोध नहीं है, पूरा सम्मान किया जायगा, फिर वे देशी हों या विदेशी। अपने लिए तो मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैं देशी और विदेशीके फर्कसे नफरत करता हूँ। यह है मेरे सपनोंका भारत··· इससे भिन्न किसी चीजसे मुझे संतोष नहीं होगा।[६]

यदि भारतने हिंसाको अपना धर्म स्वीकार कर लिया और यदि उस समय मैं जीवित रहा, तो मैं भारतमें नहीं रहना चाहूँगा। तब वह मेरे मनमें गर्वकी भावना उत्पन्न नहीं करेगा। मेरा देशप्रेम मेरे धर्म द्वारा नियंत्रित है। मैं भारतसे उसी तरह बँधा हुआ हूँ, जिस तरह कोई बालक अपनी माँकी छातीसे चिपटा रहता है, क्योंकि मैं महसूस करता हूँ कि वह मुझे मेरा आवश्यक आध्यात्मिक पोषण देता है। उसके वातावरणसे मुझे अपनी उच्चतम आकांक्षाओंकी पुकारका उत्तर मिलता है। यदि किसी कारण मेरा यह विश्वास हिल जाय या चला जाय, तो मेरी दशा उस अनाथके जैसी होगी, जिसे अपना पालक पानेकी आशा ही न रही हो।[७]

यदि भारत तलवारकी नीति अपनाये तो वह क्षणिक विजय पा सकता है। लेकिन तब भारत मेरे गर्वका विषय नहीं रहेगा।···· भारतके द्वारा तलवारका स्वीकार मेरी कसौटीकी घड़ी होगी। मैं आशा करता हूँ कि उस कसौटी-पर मैं खरा उतरूँगा। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओंसे मर्यादित नहीं है। यदि

उसमें (धर्ममें) मेरा जीवंत विश्वास है, तो वह मेरे भारत-प्रेमका भी अतिक्रमण कर जायगा।[१८]

२. स्वराज्यका अर्थ

स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-संयम है। अंग्रेजी शब्द 'इंडिपेंडेंस' अक्सर सब प्रकारकी मर्यादाओंसे मुक्त निरंकुश आजादीका या स्वच्छंदताका अर्थ देता है, वह अर्थ स्वराज्य शब्दमें नहीं है।[१]

स्वराज्यसे मेरा अभिप्राय है लोक-सम्मतिके अनुसार होनेवाला भारतवर्षका शासन। लोक-सम्मतिका निश्चय देशके बालिग लोगोंकी बड़ीसे बड़ी तादादके मतके जरियेसे हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देशके हों या इस देशमें आकर बस गये हों। वे लोग ऐसे हों जिन्होंने अपने शारीरिक श्रमके द्वारा राज्यकी कुछ सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओंकी सूचीमें अपना नाम लिखवा लिया हो। ...सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगोंके द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेनेसे नहीं, बल्कि जब सत्ता-का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगोंके द्वारा उसका प्रतिकार करनेकी क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दोंमें, स्वराज्य जनतामें इस बातका ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्तापर कब्जा करने और उसका नियमन करनेकी क्षमता उसमें है।[२]

आखिर स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आन्तरिक शक्तिपर, बड़ीसे बड़ी कठिनाइयोंसे जूझनेकी हमारी ताकतपर। सच पूछो तो वह स्वराज्य, जिसे पानेके लिए अनवरत प्रयत्न और बचाये रखनेके लिए सतत जाग्रति नहीं चाहिए, स्वराज्य कहलानेके लायक ही नहीं है। स्त्री-पुरुषोंके विशाल समूहका राजनीतिक स्वराज्य एक-एक शख्सके अलग-अलग स्वराज्यसे कोई ज्यादा अच्छी (या भिन्न) चीज नहीं है और इसलिए उसे पानेका तरीका वही है, जो एक-एक आदमीके आत्म-स्वराज्य या आत्म-संयमका है।[३]

मेरी कल्पनाका स्वराज्य

मेरे...हमारे...सपनोंके स्वराज्यमें जाति (रेस) या धर्मके भेदोंको कोई स्थान नहीं हो सकता। उसपर शिक्षितों या धनवानोंका एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए—सबके कल्याणके लिए होगा। सबकी गिनतीमें किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लँगड़े, अंधे और भूखसे मरनेवाले लाखों-करोड़ों मेहनत-कश मजदूर भी अवश्य आते हैं।[४]

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य तो ज्यादा संख्यावाले समाजका

यानी हिन्दुओंका ही राज्य होगा। इस मान्यतासे ज्यादा बड़ी कोई दूसरी गलती नहीं हो सकती। अगर यह सही सिद्ध हो तो अपने लिए मैं ऐसा कह सकता हूँ कि मैं उसे स्वराज्य माननेसे इन्कार कर दूँगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध करूँगा। मेरे लिए हिन्द स्वराज्यका अर्थ सब लोगोंका राज्य, न्यायका राज्य है।[५]

स्वराज्य...जितना किसी राजाके लिए होगा उतना ही किसानके लिए, जितना किसी धनवान् जमींदारके लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहरके लिए, जितना हिन्दुओंके लिए होगा उतना ही मुसलमानोंके लिए, जितना जैन, यहूदी और सिख लोगोंके लिए होगा उतना ही पारसियों और ईसाइयोंके लिए। उसमें जाति-पाँति, धर्म या दरजेके भेदभावके लिए कोई स्थान नहीं होगा।[६]

मेरे सपनेका स्वराज्य तो गरीबोंका स्वराज्य होगा। जीवनकी जिन आवश्यकताओंका उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही गरीबोंको भी सुलभ होनी चाहिए, इसमें फर्कके लिए स्थान नही हो सकता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उनके जैसे महल होने चाहिए। सुखी जीवनके लिए महलोंकी कोई आवश्यकता नहीं। हमें महलोंमें रख दिया जाय तो हम घबड़ा जायँ। लेकिन जीवनकी वे सामान्य सुविधाएँ गरीबोंको भी अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। मुझे इस बातमें बिलकुल भी सन्देह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तबतक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जबतक वह गरीबोंको ये सारी सुविधाएँ देनेकी पूरी व्यवस्था नहीं कर देता।[७]

स्वराज्यकी मेरी कल्पनाके विषयमें किसीको कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रणसे पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। उसके दो दूसरे उद्देश्य भी हैं : एक छोरपर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य और दूसरे छोरपर इसी कक्षाका दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहाँ धर्म शब्दका सर्वोच्च अर्थ अभीष्ट है। उसमें हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सबका समावेश होता है, लेकिन वह इन सबसे ऊँचा है।....इसे हम स्वराज्यका समचतुर्भुज कह सकते हैं, यदि उसका एक भी कोण विषम हुआ तो उसका रूप विकृत हो जायगा।[८]

अगर स्वराज्यका अर्थ हमें सभ्य बनाना और हमारी सभ्यताको अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो, तो वह किसी कीमतका नहीं होगा। हमारी सभ्यताका मूल तत्त्व ही यह है कि हम अपने सब कामोंमें, वे निजी हों या सार्वजनिक, नीतिके पालनको सर्वोच्च स्थान देते हैं।[९]

स्वराज्यके साधन

मेरी कल्पनाका स्वराज्य तभी आयेगा, जब हमारे मनमें यह बात अच्छी तरह जम जाय कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसाके शुद्ध साधनोंद्वारा

ही हासिल करना है, उन्हींके द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हींके द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनताका स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनोंसे नहीं आ सकता। कारण स्पष्ट और सीधा है, यदि असत्यमय और हिंसक उपायोंका प्रयोग किया गया, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियोंको दबाकर या इनका नाश करके खतम कर दिया जायगा। ऐसी स्थितिमें वैयक्तिक स्वतंत्रताकी रक्षा नहीं हो सकती। वैयक्तिक स्वतंत्रताको प्रकट होनेका पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसापर आधारित शासनमें ही मिल सकता है।[१०]

अहिंसापर आधारित स्वराज्यमें लोगोंको अपने अधिकारोंका ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्योंका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। हरएक कर्तव्यके साथ उसकी तौलका अधिकार जुड़ा हुआ होता ही है, और सच्चे अधिकार तो वे ही हैं, जो अपने कर्तव्योंका योग्य पालन करके प्राप्त किये गये हों। इसलिए नागरिकताके अधिकार सिर्फ उन्हींको मिल सकते हैं, जो जिस राज्यमें वे रहते हों उसकी सेवा करते हों। और सिर्फ वे ही इन अधिकारोंके साथ पूरा न्याय कर सकते हैं। हरएक आदमीको झूठ बोलने और गुंडागिरी करनेका अधिकार है, किन्तु इस अधिकारका प्रयोग उस आदमी और समाज, दोनोंके लिए हानिकारी है। लेकिन जो व्यक्ति सत्य और अहिंसाका पालन करता है, उसे प्रतिष्ठा मिलती है और इस प्रतिष्ठाके फलस्वरूप उसे अधिकार मिल जाते हैं। और जिन लोगोंको अधिकार अपने कर्तव्योंके पालनके फलस्वरूप मिलते हैं, वे उनका उपयोग समाजकी सेवाके लिए ही करते हैं, अपने लिए कभी नहीं। किसी राष्ट्रीय समाजके स्वराज्यका अर्थ उस समाजके विभिन्न व्यक्तियोंके स्वराज्य (अर्थात् आत्म-शासन) का योग ही है। और ऐसा स्वराज्य व्यक्तियोंके द्वारा नागरिकोंके रूपमें अपने कर्तव्यके पालनसे ही आता है। उसमें कोई अपने अधिकारोंकी बात नहीं सोचता। जब उनकी आवश्यकता होती है, तब वे उन्हें अपने-आप मिल जाते हैं और इसलिए मिलते हैं कि वे अपने कर्तव्यका सम्पादन ज्यादा अच्छी तरह कर सकें।

...अहिंसापर आधारित स्वराज्यमें कोई किसीका शत्रु नहीं होता, सारी जनताकी भलाईका सामान्य उद्देश्य सिद्ध करनेमें हरएक अपना अभीष्ट योग देता है, सब लिख-पढ़ सकते हैं, और उनका ज्ञान दिन-दिन बढ़ता रहता है। बीमारी और रोग कम-से-कम हो जायँ, ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता और मजदूरी करना चाहनेवालेको काम अवश्य मिल जाता है। ऐसी शासन-व्यवस्थामें जुआ, शराबखोरी और दुराचारको या वर्ग-विद्वेषको कोई स्थान नहीं होता। अमीर लोग अपने धनका उपयोग बुद्धिपूर्वक उपयोगी कार्योंमें करेंगे, अपनी शान-शौकत बढ़ानेमें या शारीरिक सुखोंकी वृद्धिमें उसका अपव्यय नहीं

करेंगे। उसमें ऐसा नहीं हो सकता, होना नहीं चाहिए, कि चंद अमीर तो रत्न-जटित महलोंमें रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोपड़ियोंमें, जिनमें हवा और प्रकाशका प्रवेश न हो। अहिंसक स्वराज्यमें न्यायपूर्ण अधिकारोंका किसीके भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता और इसी तरह किसीको कोई अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं हो सकते। सुसंगठित राज्यमें किसीके न्याय्य अधिकारका किसी दूसरेके द्वारा अन्यायपूर्वक छीना जाना असंभव होना चाहिए और कभी ऐसा हो जाय, तो अपहर्ताको अपदस्थ करनेके लिए हिंसाका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं होनी चाहिए।[११]

लोकतंत्र और हिंसाका मेल नहीं बैठ सकता। जो राज्य आज नाममात्रके लिए लोकतंत्रात्मक हैं उन्हें या तो स्पष्ट रूपसे तानाशाहीका हामी हो जाना चाहिए, या अगर उन्हें सचमुच लोकतंत्रात्मक बनना है तो उन्हें साहसके साथ अहिंसक बन जाना चाहिए। यह कहना बिलकुल अविचारपूर्ण है कि अहिंसाका पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं, और राष्ट्र—जो व्यक्तियोंसे ही बनते हैं—हरगिज नहीं।[१२]

प्रजातंत्रका अर्थ मैं यह समझा हूँ कि इस तंत्रमें नीचेसे नीचे और ऊँचेसे ऊँचे आदमीको आगे बढ़नेका समान अवसर मिलना चाहिए। लेकिन सिवा अहिंसाके ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। संसारमें आज कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ कम-जोरोंके हककी रक्षा बतौर फर्जके होती हो। अगर गरीबोंके लिए कुछ किया भी जाता है, तो वह मेहरबानीके तौरपर किया जाता है।

पश्चिमका आजका प्रजातंत्र जरा हल्के रंगका नाजी और फासिस्ट तंत्र ही है। ज्यादासे ज्यादा (यह कहा जा सकता है कि) प्रजातंत्र साम्राज्यवाद की नाजी और फासिस्ट चालको ढँकनेके लिए एक आडम्बर है।... हिन्दुस्तान सच्चा प्रजा-तंत्र घड़नेका प्रयत्न कर रहा है, अर्थात् ऐसा प्रजातंत्र जिसमें हिंसाके लिए कोई स्थान न होगा।[१३]

सच्चा स्वराज्य—सरकारी नियंत्रणसे मुक्ति

जब राजसत्ता जनताके हाथमें आ जाती है, तब प्रजाकी आजादीमें होनेवाले हस्तक्षेपकी मात्रा कम-से-कम हो जाती है। दूसरे शब्दोंमें, जो राष्ट्र अपना काम राज्यके हस्तक्षेपके बिना ही शान्तिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंगसे कर दिखाता है, उसे ही सच्चे अर्थोंमें लोकतंत्रात्मक कहा जा सकता है। जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ सरकारका बाहरी रूप लोकतंत्रात्मक भले हो, परन्तु वह नामके लिए ही लोकतंत्रात्मक है।[१४]...सच्ची लोकशाही केन्द्रमें बैठे हुए (दस-) बीस आदमी नहीं चला सकते। वह तो नीचेसे हरएक गाँवके लोगों द्वारा चलायी जानी चाहिए।[१५]

स्वराज्यका अर्थ है सरकारी नियंत्रणसे मुक्त होनेके लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकारका हो या स्वदेशी सरकारका। यदि स्वराज्य हो जानेपर लोग अपने जीवनकी हर छोटी बातके नियमनके लिए सरकारका मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी कामकी नहीं होगी।[१६]

३. सच्ची आजादी

मेरी दृढ़ मान्यता है कि अगर भारतको सच्ची आजादी प्राप्त करना है और भारतके जरिये संसारको भी, तो आगे या पीछे हमें यह समझना होगा कि लोगोंको गाँवोंमें ही रहना है, शहरोंमें नहीं, झोपड़ियोंमें रहना है, महलोंमें नहीं। करोड़ों लोग शहरों या महलोंमें कभी एक-दूसरेके साथ शांतिपूर्वक नहीं रह सकते। उस परिस्थितिमें उनके पास सिवा इसके कोई चारा नहीं होगा कि वे हिंसा और असत्य दोनोंका सहारा लें।

और मेरी मान्यता है कि सत्य और अहिंसाके विना मनुष्य-जातिका विनाश हो जायगा। सत्य और अहिंसाको हम ग्रामीण जीवनकी सादगीमें ही प्राप्त कर सकते हैं···· अगर दुनिया आज गलत रास्तेपर जा रही है तो मुझे उसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिए। हो सकता है कि भारत भी उसी रास्ते जाय और जिस तरह पतंगा दीपकके चारों ओर नाचकर अंतमें उसीमें जल मरता है उसी प्रकार वह भी नष्ट हो जाय। लेकिन भारतको और भारतके जरिये सारी दुनियाको भी विनाश-से बचानेका आखरी साँसतक प्रयत्न करना मेरा परम कर्तव्य है।

मेरे कहनेका सार यह है कि मनुष्यको अपनी जरूरी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें संतोष मानना चाहिए और स्वावलम्वी होना चाहिए। अगर वह इतना संयम नहीं रखेगा तो वह अपने-आपको बचा नहीं सकेगा ····मैं आधुनिक विज्ञान-का प्रशंसक हूँ लेकिन मैं देखता हूँ कि उसके प्रकाशमें पुरानी चीजका ही फिरसे संशोधन और नवीनीकरण करना होगा।[१]

आजादी नीचेसे शुरू होनी चाहिए। हरएक गाँवमें लोगोंकी हुकूमत या पंचा-यतका राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हरएक गाँवको अपने पाँवपर खड़ा होना होगा——अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहाँतक कि वह सारी दुनियाके खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हदतक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमलेके मुकाबलेमें अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटनेके लायक बन जाय। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्तिपर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियोंपर या दुनियापर भरोसा न रखा जाय, या

उनकी राजी-खुशीसे दी हुई मदद न ली जाय। कल्पना यह है कि सब लोग आजाद होंगे और सब एक-दूसरेपर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाजका हरएक आदमी यह जानता है कि उसे क्या 'करना' चाहिए और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरीकी मेहनत करके भी दूसरोंको जो चीज नहीं मिलती है वह खुद भी किसीको नहीं लेनी चाहिए, वह समाज जरूर ही बहुत ऊँचे दरजेकी सभ्यतावाला होना चाहिए।

वैसे समाजकी रचना सत्य और अहिंसापर ही हो सकती है। (और) मेरी राय है कि जबतक ईश्वरपर जीता-जागता विश्वास न हो, तबतक सत्य और अहिंसापर चलना असंभव है। ईश्वर या खुदा वह जिन्दा ताकत है, जिसमें दुनियाकी तमाम ताकतें समा जाती हैं। वह किसीका सहारा नहीं लेती और दुनियाकी दूसरी सब ताकतोंके खतम हो जानेपर भी कायम रहती है।...

ऐसा समाज अनगिनत गाँवोंका बना होगा। उसका फैलाव एकके ऊपर एकके ढंगपर नहीं, बल्कि लहरोंकी तरह एकके बाद एककी शक्लमें होगा। जिन्दगी मीनारकी शक्लमें नहीं होगी, जहाँ ऊपरकी तंग चोटीको नीचेके चौड़े पायेपर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्रकी लहरोंकी तरह जिन्दगी एकके बाद एक घेरेकी शक्लमें होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। वह व्यक्ति हमेशा अपने गाँवके खातिर मिटनेको तैयार रहेगा। गाँव अपने इर्दगिर्दके गाँवोंके लिए मिटनेको तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगोंका बन जायगा, जो उद्धत बनकर कभी किसीपर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपनेमें समुद्रकी उस शानको महसूस करते हैं जिसके वे एक जरूरी अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहरका घेरा या दायरा अपनी ताकतका उपयोग भीतरवालोंको कुचलनेमें नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो खयाली तसवीर है, इसके बारेमें सोचकर वक्त क्यों बिगाड़ा जाय? युक्लिडकी परिभाषावाला बिन्दु कोई मनुष्य खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तसवीरकी भी कीमत है। इसके लिए मनुष्य जिन्दा रह सकता है। अगरचे इस तसवीरको पूरी तरह बनाना या पाना संभव नहीं है, तो भी इस सही तसवीरको पाना या इसतक पहुँचना हिन्दुस्तानकी जिन्दगीका मकसद होना चाहिए। जिस चीजको हम चाहते हैं, उसकी सही-सही तसवीर हमारे सामने होनी चाहिए, तभी हम उससे मिलती-जुलती कोई चीज पानेकी आशा रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तानके हरएक गाँवमें कभी पंचायती राज* कायम हुआ, तो मैं अपनी इस

---

* यहाँ पंचायती राजसे आजके प्रचलित 'पंचायती राज' का भ्रम नहीं होना चाहिए। बापूने जिस अर्थमें पंचायती राज शब्दका प्रयोग किया है वह स्वयं इस लेखसे जाहिर है।—सं०

तसवीरकी सचाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिये कि न कोई पहला होगा, न आखिरी।

इस तसवीरमें हरएक धर्मकी अपनी पूरी और बराबरीकी जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़के पत्ते हैं। इस पेड़की जड़ हिलाई नहीं जा सकती, क्योंकि वह पातालतक पहुँची हुई है। जबरदस्तसे जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

इस तसवीरमें उन मशीनोंके लिए कोई जगह नहीं होगी, जो मनुष्यकी मेहनतकी जगह लेकर कुछ लोगोंके हाथोंमें सारी ताकत इकट्ठी कर देती हैं। सभ्य लोगोंकी दुनियामें मेहनतकी अपनी अनोखी जगह है। उसमें ऐसी मशीनोंकी गुंजाइश होगी, जो हर आदमीको उसके काममें मदद पहुँचाये।[२]

जब पंचायत राज स्थापित हो जायगा, तब लोकमत ऐसे भी अनेक काम कर दिखायेगा जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। जमींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं-की मौजूदा सत्ता तभीतक चल सकती है, जबतक कि सामान्य जनताको अपनी शक्तिका भान नहीं होता। अगर लोग जमींदारी और पूँजीवादकी बुराईसे सह-योग करना बंद कर दें, तो वह पोषणके अभावमें खुद ही मर जायगी। पंचायत राजमें केवल पंचायतकी आज्ञा मानी जायगी और पंचायत अपने बनाये हुए कानूनके द्वारा ही अपना कार्य करेगी।[३]

भारत उसके गाँवोंमें बसा है

मेरा विश्वास है और मैंने इस बातको असंख्य बार दुहराया है कि भारत अपने चन्द शहरोंमें नहीं बल्कि सात लाख गाँवोंमें बसा हुआ है। लेकिन हम शहरवासियोंका खयाल है कि भारत शहरोंमें ही है और गाँवोंका निर्माण शहरों-की जरूरतें पूरी करनेके लिए ही हुआ है। हमने कभी यह सोचनेकी तकलीफ ही नहीं उठायी कि उन गरीबोंको पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढँकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं और धूप तथा वर्षासे बचनेके लिए उनके सिरपर छप्पर है या नहीं।

…मैंने पाया है कि शहरवासियोंने आमतौरपर ग्रामवासियोंका शोषण किया है, सच तो यह है कि वे गरीब ग्रामवासियोंकी ही मेहनतपर जीते हैं।…जहाँतक मैं जानता हूँ (कोई) भी यह नहीं कहता कि भारतीय ग्रामवासियोंको भरपेट अन्न मिलता है। उलटे, (सबने) यह स्वीकार किया है कि अधिकांश आबादी लगभग भुखमरीकी हालतमें रहती है, दस प्रतिशत अधभूखी रहती है और लाखों लोग चुटकीभर नमक और मिर्चीके साथ मशीनोंका पालिश किया हुआ निःसत्त्व चावल या रूखा-सूखा अनाज खाकर अपना गुजारा चलाते हैं।[४]

हमारी आबादीका पचहत्तर प्रतिशतसे ज्यादा हिस्सा कृषि-जीवी है। लेकिन

यदि हम उनसे उनकी मेहनतका सारा फल खुद छीन लें या दूसरोंको छीन लेने दें, तो यह नहीं कहा जा सकता कि हममें स्वराज्यकी भावना काफी मात्रामें है।[५]

शहर अपनी हिफाजत आप कर सकते हैं। हमें तो अपना ध्यान गाँवोंकी ओर लगाना चाहिए। हमें उन्हें उनकी संकुचित दृष्टि, उनके पूर्वग्रहों और वहमों आदिसे मुक्त करना है और इसे करनेका सिवा इसके और कोई तरीका नहीं है कि हम उनके साथ उनके बीचमें रहें, उनके सुख-दुःखमें हिस्सा लें और उनमें शिक्षाका तथा उपयोगी ज्ञानका प्रचार करें।[६]

शहरोंका कर्तव्य

गाँवों और शहरोंके बीच स्वास्थ्यपूर्ण और नीतियुक्त सम्बन्धका निर्माण तब होगा जब कि शहरोंको अपने इस कर्तव्यका ज्ञान होगा कि उन्हें गाँवोंका स्वार्थके लिए शोषण करनेके बजाय, गाँवोंसे जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते हैं, उसका पर्याप्त बदला देना चाहिए।[७]

शहरके लोगोंको शायद ही इस बातका पता होगा कि भारतके आधापेट रहनेवाले करोड़ों लोग किस तरह दिनपर दिन मृतप्राय होते जा रहे हैं। उन्हें इस बातका पतातक नहीं कि उनके वे क्षुद्र ऐश-आराम और कुछ नहीं···पूंजीपतियोंका घर भरनेका जो परिश्रम वे करते हैं उसकी निरी दलाली-मात्र है; और वह सारा मुनाफा तथा उनकी दलाली दोनों भारतकी गरीब प्रजाको निचोड़कर निकाली गयी चीज है।···किसी भी तरहके वितंडावादसे अथवा अंकों और ब्योरोंसे तथा किसी भी तरहके मायावी कोष्ठकोंसे उस सबूतको उड़ाया नहीं जा सकता, जो भारतके देहात आज अपने चलते-फिरते नर-कंकालोंको हमारी आँखोंके सामने पेश करके दे रहे हैं।[८]

ग्राम-सुधार-आन्दोलनमें केवल ग्रामवासियोंके ही शिक्षणकी बात नहीं है, शहरवासियोंको भी उससे इतना ही शिक्षण लेना है। इस कामको उठानेके लिए शहरोंसे जो कार्यकर्ता आयें, उन्हें (अपनेमें) ग्राम-मानसका विकास करना है और ग्रामवासियोंकी तरह रहनेकी कला सीखनी है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें ग्रामवासियोंकी तरह भूखे मरना है, लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि जीवनकी उनकी पुरानी पद्धतिमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए।[९]

इसका एक ही उपाय है: हम जाकर उनके बीचमें बैठ जायँ और उनके आश्रय-दाताओंकी तरह नहीं, बल्कि उनके सेवकोंकी तरह दृढ़ निष्ठासे उनकी सेवा करें; हम उनके भंगी बन जायँ और उनके स्वास्थ्यकी रक्षा करनेवाले परिचारक बन जायँ। हमें अपने सारे पूर्वग्रह भुला देने चाहिए। एक क्षणके लिए हम स्वराज्यको भी भूल जायँ और अमीरोंकी बात तो भूल ही जायँ, यद्यपि उनका होना हमें हर कदमपर खटकता है। वे तो अपनी जगह हैं ही। और कई लोग हैं, जो इन बड़े

सवालोंको सुलझानेमें लगे हुए हैं। हमें तो गाँवोंके सुधारके इस छोटे काममें लग जाना चाहिए जो आज जरूरी है और तब भी जरूरी होगा जब हम अपना उद्देश्य (स्वराज्य) प्राप्त कर चुकेंगे। सच तो यह है कि ग्रामकार्यकी यह सफलता स्वयं हमें अपने उद्देश्य (स्वराज्य) के निकट ले जायगी।[१०]

हमें गाँवोंको अपने चंगुलमें जकड़ रखनेवाली जिस त्रिविध बीमारीका इलाज करना है, वह इस प्रकार है :

१. सार्वजनिक स्वच्छताकी कमी,
२. पर्याप्त और पोषक आहारकी कमी,
३. ग्रामवासियोंकी जड़ता।....

ग्रामवासी जनता अपनी उन्नतिकी ओरसे उदासीन है। स्वच्छताके आधुनिक उपायोंको न तो वे समझते हैं और न उनकी कद्र करते हैं। अपने खेतोंको जोतने-बोने या जिस किस्मका परिश्रम वे करते आये हैं, वैसा परिश्रम करनेके सिवा अधिक कोई श्रम करनके लिए वे राजी नहीं हैं। ये कठिनाइयाँ वास्तविक और गम्भीर हैं। लेकिन उनसे हमें घबड़ाने या हतोत्साह होनेकी जरूरत नहीं है। हमें अपने ध्येय और कार्यमें अमिट श्रद्धा होनी चाहिए। हमारे व्यवहारमें धीरज होना चाहिए। ग्रामकार्यमें हम खुद नौसिखिया ही तो हैं। हमें एक पुरानी और जटिल बीमारीका इलाज करना है। धीरज और सतत परिश्रमसे, यदि हममें वे गुण हों तो, कठिनाइयोंके पहाड़तक जीते जा सकते हैं। हम उन परिचारिकाओंकी स्थितिमें हैं जो उन्हें सौंपे हुए बीमारोंको सिर्फ इसीलिए छोड़कर जानेके लिए स्वतंत्र नहीं हैं कि उन बीमारोंकी बीमारी असाध्य है।[११]

क्या भारतके गाँव हमेशा वैसे ही थे जैसे कि वे आज हैं? इस प्रश्नकी छान-बीन करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। अगर वे कभी भी इससे अच्छे नहीं थे तो इससे हमारी पुरानी सभ्यताका, जिसपर हम इतना अभिमान करते हैं, एक बड़ा दोष प्रकट होता है। लेकिन यदि वे कभी अच्छे नहीं थे, तो सदियोंसे चली आ रही नाशकी क्रियाको, जो हम अपने आसपास आज भी देख रहे हैं, वे कैसे सह सके?... हरएक देश-प्रेमीके सामने आज जो काम है वह यह है कि इस नाशकी क्रियाको कैसे रोका जाय या दूसरे शब्दोंमें भारतके गाँवोंका पुनर्निर्माण कैसे किया जाय, ताकि किसीके लिए भी उनमें रहना उतना ही आसान हो जाय जितना आसान वह शहरोंमें माना जाता है। सचमुच हरएक देशभक्तके सामने आज यही काम है।[१२]

भारतकी जरूरत यह नहीं है कि चंद लोगोंके हाथोंमें बहुत सारी पूँजी इकट्ठी हो जाय। बल्कि पूँजीका ऐसा वितरण होना चाहिए कि वह इस १९०० मील लम्बे और १५०० मील चौड़े विशाल देशको बनानेवाले साढ़े-सात लाख गाँवोंको आसानीसे उपलब्ध हो सके।[१३] इन ग्राम-बस्तियोंका पुनरुत्थान होना चाहिए। भारतीय गाँव भारतीय शहरोंकी सारी जरूरतें पैदा करते थे और उन्हें

देते थे। भारतकी गरीबी तब शुरू हुई जब हमारे शहर विदेशी मालके बाजार बन गये और विदेशोंका सस्ता और भद्दा माल गाँवोंमें भरकर उन्हें चूसने लगे।[१४]

किसानोंका—वे भूमिहीन मजदूर हों या मेहनत करनेवाले जमीन-मालिक हों—स्थान पहला है। उनके परिश्रमसे ही पृथ्वी फलप्रसू और समृद्ध हुई है और इसलिए सच कहा जाय तो जमीन उनकी ही है या होनी चाहिए, जमीनसे दूर रहनेवाले जमींदारोंकी नहीं। लेकिन अहिंसक पद्धतिमें मजदूर-किसान इन जमींदारोंसे उनकी जमीन बलपूर्वक नहीं छीन सकता। उसे इस तरह काम करना चाहिए कि जमींदारके लिए उसका शोषण करना असम्भव हो जाय। इसके लिए किसानोंमें आपसमें घनिष्ठ सहकार होना नितान्त आवश्यक है।[१५]

मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकतांत्रिक स्वराज्यमें किसानोंके पास राजनीतिक सत्ताके साथ हर किस्मकी सत्ता होनी चाहिए।…किसानोंको उनकी योग्य स्थिति मिलनी ही चाहिए और देशमें उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होनी चाहिए।[१६] …अगर हम यह चाहते हैं और मानते हैं कि गाँवोंको न केवल जीवित रहना चाहिए, बल्कि उन्हें बलवान् और समृद्ध बनना चाहिए, तो हमारे दृष्टिकोणमें गाँवकी ही प्रधानता होनी चाहिए।[१७]

४. ग्रामस्वराज्य

सच तो यह है कि हमें गाँवोंवाला भारत और शहरोंवाला भारत, इन दोमेंसे एकको चुन लेना है। गाँव उतने ही पुराने हैं, जितना कि यह भारत पुराना है। शहरोंको विदेशी आधिपत्यने बनाया है। जब यह आधिपत्य मिट जायगा, तब शहरोंको गाँवोंके मातहत होकर रहना पड़ेगा। आज तो शहरोंका बोलबाला है और वे गाँवोंकी सारी दौलत खींच लेते हैं। इससे गाँवोंका ह्रास और नाश हो रहा है। गाँवोंका शोषण खुद एक संगठित हिंसा है। अगर हमें स्वराज्यकी रचना अहिंसाके पायेपर करनी है तो गाँवोंको उनका उचित स्थान देना होगा।[१]… मैं कहूँगा कि अगर गाँवोंका नाश होता है, तो भारतका भी नाश हो जायगा। उस हालतमें भारत भारत नहीं रहेगा। दुनियाको उसे जो संदेश देना है, उस संदेशको वह खो देगा।[२]

ग्रामस्वराज्यकी मेरी कल्पना यह है कि यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतोंके लिए अपने पड़ोसीपर भी निर्भर नहीं करेगा, और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतोंके लिए—जिनमें दूसरोंका सहयोग अनिवार्य होगा—वह परस्पर सहयोगसे काम लेगा। इस तरह हरएक गाँवका पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरतका तमाम अनाज और कपड़ेके लिए कपास खुद पैदा कर ले। (इसके अलावा) उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिए,

जिसमें ढोर चर सकें और गाँवके बड़ों व बच्चोंके लिए मनबहलावके साधन और खेल-कूदके मैदान वगैरहका बन्दोवस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके, (लेकिन) वह गाँजा, तम्बाकू, अफीम वगैरहकी खेतीसे बचेगा।

हरएक गाँवमें गाँवकी अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानीके लिए उसका अपना इन्तजाम होगा—वाटर वर्क्स होंगे—जिससे गाँवके सभी लोगोंको शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबोंपर गाँवका पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीमके आखिरी दरजेतक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँतक हो सकेगा, गाँवके सारे काम सहयोगके आधारपर किये जायेंगे। जात-पाँत और क्रमागत अस्पृश्यताके जैसे भेद आज हमारे समाजमें पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम-समाजमें बिलकुल नहीं रहेंगे।

…सत्याग्रह और असहयोगके शस्त्रके साथ अहिंसाकी सत्ता ही ग्रामीण समाजका शासन-बल होगी। गाँवकी रक्षाके लिए ग्राम-सैनिकोंका एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौरपर बारी-बारीसे गाँवके चौकी-पहरेका काम करना होगा। इसके लिए गाँवमें ऐसे लोगोंका रजिस्टर रखा जायगा। गाँवका शासन चलानेके लिए हर गाँवके पाँच आदमियोंकी एक पंचायत चुनी जायगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गाँवके बालिग स्त्री-पुरुषोंको अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतोंको सब प्रकारकी आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्राम-स्वराज्यमें आजके प्रचलित अर्थोंमें सजा या दण्डका कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक सालके कार्यकालमें स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और कार्यकारिणी सभाका सारा काम संयुक्त रूपसे करेगी।

आज भी अगर कोई गाँव चाहे तो अपने यहाँ इस तरहका प्रजातंत्र कायम कर सकता है। उसके इस काममें मौजूदा सरकार भी ज्यादा दस्तंदाजी नहीं करेगी। क्योंकि उसका गाँवसे जो भी कारगर संबंध है, वह सिर्फ मालगुजारी वसूल करनेतक ही सीमित है। यहाँ मैंने इस बातका विचार नहीं किया है कि इस तरहके गाँवका अपने पास-पड़ोसके गाँवोंके साथ या केन्द्रीय सरकारके साथ, अगर वैसी कोई सरकार हुई, क्या संबंध रहेगा। मेरा हेतु तो ग्राम-शासनकी एक रूपरेखा पेश करनेका ही है। इस ग्राम-शासनमें व्यक्तिगत स्वतंत्रतापर आधार रखनेवाला संपूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकारका निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसाके नियमके वश होकर चलेंगे। अपने गाँवके साथ वह सारी दुनियाकी शक्तिका मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हरएक देहातीके जीवनका सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गाँवकी इज्जतकी रक्षाके लिए मर मिटे।

संभव है ऐसे गाँवको तैयार करनेमें एक आदमीकी पूरी जिन्दगी खतम हो जाय। सच्चे प्रजातंत्रका और ग्राम-जीवनका कोई भी प्रेमी एक गाँवको लेकर बैठ सकता है और उसीको अपनी सारी दुनिया मानकर उसके काममें मशगूल रह सकता है। निश्चय ही उसे इसका अच्छा फल मिलेगा। वह गाँवमें बैठते ही एक साथ गाँवके भंगी, कतवैये, चौकीदार, वैद्य और शिक्षकका काम शुरू कर देगा। अगर गाँवका कोई आदमी उसके पास न फटके, तो भी वह सन्तोषके साथ अपने सफाई और कताईके काममें जुटा रहेगा।[३]

देहातवालोंमें ऐसी कला और कारीगरीका विकास होना चाहिए, जिससे बाहर उनकी पैदा की हुई चीजोंकी कीमत की जा सके। जब गाँवोंका पूरा-पूरा विकास हो जायगा, तो देहातियोंकी बुद्धि और आत्माको सन्तुष्ट करनेवाली कला-कारीगरीके धनी स्त्री-पुरुषोंकी गाँवोंमें कमी नहीं रहेगी। गाँवमें कवि होंगे, चित्रकार होंगे, शिल्पी होंगे, भाषाके पंडित और शोध करनेवाले लोग भी होंगे। थोड़ेमें, जिन्दगीकी ऐसी कोई चीज न होगी जो गाँवमें न मिले। आज हमारे देहात उजड़े हुए और कूड़े-कचरेके ढेर बने हुए हैं। कल वहीं सुन्दर बगीचे होंगे, और ग्रामवासियोंको ठगना या उनका शोषण करना असंभव हो जायगा। इस तरहके गाँवोंकी पुनर्रचनाका काम आजसे ही शुरू हो जाना चाहिए, और गाँवोंको पुनर्रचनाका (यह) काम कामचलाऊ नहीं, बल्कि स्थायी होना चाहिए।[४]

(अभी) शहरोंद्वारा ग्रामीणोंका शोषण और उनकी संपत्तिका हरण हो रहा है···मेरी योजनाके अन्तर्गत, ऐसी कोई चीज शहरोंद्वारा नहीं बनाने दी जायगी जो उतनी ही अच्छी तरह गाँवोंमें बनायी जा सकती हो। शहरोंका सही उपयोग यह है कि वे गाँवोंमें बनी हुई चीजोंके निकासके केन्द्र हों···गाँवोंको निश्चित रूपसे स्वावलम्वी बनना चाहिए। अगर हमें अहिंसाकी दृष्टिसे काम करना हो तो इसके सिवा मैं उसका कोई हल नहीं देखता।[५]

मेरी कल्पनाकी ग्राम-इकाई मजबूतसे मजबूत होगी। मेरी कल्पनाके गाँवमें १००० आदमी रहेंगे। ऐसे गाँवको अगर स्वावलम्बनके आधारपर अच्छी तरह संगठित किया जाय, तो वह बहुत-कुछ कर सकता है।[६]

आदर्श भारतीय ग्राम इस तरह बसाया जायगा कि उसमें आसानीसे स्वच्छताकी पूरी-पूरी व्यवस्था रहे। उसकी झोपड़ियोंमें पर्याप्त प्रकाश और हवाका प्रबन्ध होगा और उनके निर्माणमें जिस सामानका उपयोग होगा वह ऐसा होगा, जो गाँवके आसपास पाँच मीलकी त्रिज्याके अन्दर आनेवाले प्रदेशमें मिल सके। इन झोपड़ियोंमें आँगन या खुली जगह होगी, जहाँ उस घरके लोग अपने उपयोगके लिए साग-भाजियाँ उगा सकें और अपने मवेशियोंको रख सकें। गाँवकी गलियाँ और सड़कें जिस धूलको हटाया जा सकता है उससे मुक्त होंगी। उस गाँवमें उसकी आवश्यकताके अनुसार कुएँ होंगे और वे सबके लिए खुले होंगे। उसमें सब

लोगोंके लिए पूजाके स्थान होंगे, सबके लिए एक सभा-भवन होगा, मवेशियोंके चरनेके लिए गाँवका चरागाह होगा, सहकारी डेरी होगी, प्राथमिक और माध्यमिक शालाएँ होंगी जिनमें मुख्यत: औद्योगिक शिक्षा दी जायगी और झगड़ोंके निपटारेके लिए ग्राम-पंचायत होगी। वह अपना अनाज, साग-भाजियाँ और फल तथा खादी खुद पैदा कर लेगा।[७]

गाँवोंमें फिरसे जान तभी आ सकती है, जब वहाँकी लूट-खसोट रुक जाय। बड़े पैमानेपर मालकी पैदावार जरूर ही व्यापारिक प्रतिस्पर्धा तथा माल निकालनेकी धुनके साथ-साथ गाँवोंकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे होनेवाली लूटके लिए जिम्मेवार है। इसलिए हमें इस बातकी सबसे ज्यादा कोशिश करनी चाहिए कि गाँव हर बातमें स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण हो जायँ। वे अपनी जरूरतें पूरी करनेभरके लिए चीजें तैयार करें। ग्रामोद्योगके इस अंगकी अगर अच्छी तरह रक्षा की जाय, तो फिर भले ही देहाती लोग आजकलके उन यंत्रों और औजारोंसे भी काम ले सकते हैं, जिन्हें वे बना और खरीद सकते हैं। शर्त सिर्फ यही है कि दूसरोंको लूटनेके लिए उनका उपयोग नहीं होना चाहिए।[८]

ग्रामोद्योगोंकी योजनाके पीछे मेरी कल्पना तो यह है कि हमें अपनी रोजमर्राकी आवश्यकताएँ गाँवोंकी बनी चीजोंसे ही पूरी करनी चाहिए, और जहाँ यह मालूम हो कि अमुक चीजें गाँवोंमें मिलती ही नहीं, वहाँ हमें यह देखना चाहिए कि उन चीजोंको थोड़े परिश्रम और संगठनसे बनाकर गाँववाले उनसे कुछ मुनाफा उठा सकते हैं या नहीं। मुनाफेका अंदाज लगानेमें हमें अपना (निजी) नहीं, किन्तु (पूरे) गाँवका खयाल रखना चाहिए। संभव है कि शुरूमें हमें साधारण भावसे कुछ अधिक देना पड़े और चीज हलकी मिले। पर अगर हम उन चीजोंके बनानेवालोंके काममें रस लें और यह आग्रह रखें कि वे बढ़ियासे बढ़िया चीजें तैयार करें, और सिर्फ आग्रह ही न रखें, बल्कि उन लोगोंको पूरी मदद भी दें, तो यह हो नहीं सकता कि गाँवोंकी बनी चीजोंमें दिन-दिन तरक्की न होती जाय।[९]···· ग्रामोद्योगोंका यदि लोप हो गया, तो भारतके ७ लाख गाँवोंका सर्वनाश ही समझिये।

ग्रामोद्योग-संबंधी मेरी प्रस्तावित योजनापर जो टीकाएँ हुई हैं उन्हें मैंने पढ़ा है। कइयोंने तो मुझे यह सलाह दी है कि मनुष्यकी अन्वेषण-बुद्धिने प्रकृतिकी जिन शक्तियोंको अपने वशमें कर लिया है, उनका उपयोग करनेसे ही गाँवोंकी मुक्ति होगी। उन आलोचकोंका यह कहना है कि प्रगतिशील पश्चिममें जिस तरह पानी, हवा, तेल और बिजलीका पूरा-पूरा उपयोग हो रहा है, उसी तरह हमें भी इन चीजोंको काममें लाना चाहिए। वे कहते हैं कि इन गुप्त प्राकृतिक शक्तियोंपर कब्जा कर लेनेसे प्रत्येक अमेरिकावासी ३३ गुलामोंको रख सकता है, अर्थात् ३३ गुलामोंका काम वह इन शक्तियोंके द्वारा ले सकता है।

इस रास्ते अगर हम हिन्दुस्तानमें चले, तो मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ कि

प्रत्येक मनुष्यको ३३ गुलाम मिलनेके बजाय इस मुल्कके एक-एक मनुष्यकी गुलामी ३३ गुनी बढ़ जायगी।

यंत्रोंसे काम लेना उसी अवस्थामें अच्छा होता है, जब कि किसी निर्धारित कामको पूरा करनेके लिए आदमी बहुत ही कम हों या नपे-तुले हों। पर यह बात हिन्दुस्तानमें तो है नहीं। यहाँ कामके लिए जितने आदमी चाहिए, उनसे कहीं अधिक बेकार पड़े हुए हैं। इसलिए उद्योगोंके यंत्रीकरणसे यहाँकी बेकारी घटेगी या बढ़ेगी? कुछ वर्गगज जमीन खोदनेके लिए मैं हलका (भी) उपयोग नहीं करूँगा। (वह हाथसे खोदी जा सकती है।) हमारे यहाँ सवाल यह नहीं है कि हमारे गाँवोंमें जो लाखों-करोड़ों आदमी पड़े हैं, उन्हें परिश्रमकी चक्कीसे निकालकर किस तरह छुट्टी दिलायी जाय, बल्कि यह है कि उन्हें सालमें जो कुछ महीनोंका समय यों ही बैठे-बैठे आलसमें (और अतः गरीबीमें) बिताना पड़ता है, उसका उपयोग कैसे किया जाय। कुछ लोगोंको मेरी यह बात शायद विचित्र लगेगी, पर दरअसल बात यह है कि प्रत्येक (कपड़ा-) मिल सामान्यतः आज गाँवोंकी जनताके लिए त्रासरूप हो रही है। उनकी रोजीपर ये मायाविनी मिलें छापा मार रही हैं। मैंने बारीकीसे आँकड़े एकत्र नहीं किये, पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि गाँवोंमें बैठकर कम-से-कम दस मजदूर जितना काम करते हैं, उतना ही काम मिलका एक मजदूर करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि दस आदमियोंकी रोजी छीनकर यह एक आदमी गाँवमें जितना कमाता था उससे कहीं अधिक कमा रहा है। इस तरह कताई और बुनाईकी मिलोंने गाँवोंके लोगोंकी जीविकाका एक बड़ा भारी साधन छीन लिया है।

ऊपरकी दलीलका यह कोई जवाब नहीं है कि ये मिलें जो कपड़ा तैयार करती हैं वह अधिक अच्छा और काफी सस्ता होता है। कारण यह है कि इन मिलोंने अगर हजारों मजदूरोंका धंधा छीनकर उन्हें बेकार बना दिया है, तो सस्तेसे सस्ता मिलका कपड़ा गाँवोंकी बनी हुई महँगी खादीसे भी ज्यादा महँगा है। कोयलेकी खानमें काम करनेवाले मजदूर जहाँ रहते हैं, वहीं वे कोयलेका उपयोग कर सकते हैं, इसलिए उन्हें कोयला महँगा नहीं पड़ता। इसी तरह जो ग्रामवासी अपनी जरूरतभरके लिए खुद खादी बना लेता है, उसे वह महँगी नहीं पड़ती। मिलोंका बना कपड़ा अगर गाँवोंके लोगोंको बेकार बना रहा है, तो चावल कूटने और आटा पीसनेकी मिलें हजारों स्त्रियोंकी न केवल रोजी ही छीन रही हैं, बल्कि बदलेमें तमाम जनताके स्वास्थ्यको हानि भी पहुँचा रही हैं। जहाँ लोगोंको मांस खानेमें कोई आपत्ति न हो और जहाँ मांसाहार पुसाता हो, वहाँ मैदा और पालिशदार चावलसे शायद हानि न होती हो। लेकिन हमारे देशमें, जहाँ करोड़ों आदमी ऐसे हैं जो मांस मिले तो खानेमें आपत्ति नहीं करेंगे, पर जिन्हें मांस मिलता ही नहीं, उन्हें हाथकी चक्कीके पिसे हुए गेहूँके आटे और हाथ-कुटे

चावलके पौष्टिक तथा जीवनप्रद तत्त्वोंसे वंचित रखना एक प्रकारका पाप है। इसलिए डॉक्टरों तथा दूसरे आहार-विशेषज्ञोंको चाहिए कि मैदे और मिलके कुटे पालिशदार चावलसे लोगोंके स्वास्थ्यको जो हानि हो रही है, उससे वे जनताको आगाह कर दें।

मैंने सहज ही नजरमें आनेवाली जो कुछ मोटी-मोटी बातोंकी तरफ यहाँ ध्यान खींचा है, उसका उद्देश्य यही है कि अगर ग्रामवासियोंको कुछ काम देना है तो वह यंत्रोंके द्वारा संभव नहीं है। उनके उद्धारका सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग-धंधोंको वे अबतक किसी कदर करते चले आ रहे हैं, उन्हींको भली-भाँति जीवित किया जाय।[१०]

५. उद्योगवादका अभिशाप

दुनियामें ऐसे विवेकी पुरुषोंकी संख्या लगातार बढ़ रही है, जो इस सभ्यता-को——जिसके एक छोरपर तो भौतिक समृद्धिकी कभी तृप्त न होनेवाली आकांक्षा है और दूसरे छोरपर उसके फलस्वरूप पैदा होनेवाला युद्ध है——अविश्वासकी निगाहसे देखते हैं। लेकिन यह सभ्यता अच्छी हो या बुरी, भारतका पश्चिम जैसा उद्योगीकरण करनेकी क्या जरूरत है? पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इंग्लैंड और इटली जैसे छोटे देश अपनी व्यवस्थाओंका शहरीकरण कर सकते हैं। अमेरिका बड़ा देश है, किन्तु उसकी आबादी बहुत विरल है। इसलिए उसे भी शायद वैसा ही करना पड़ेगा। लेकिन कोई भी आदमी यदि सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बड़े देशको, जिसकी आबादी बहुत ज्यादा बड़ी है और ग्राम-जीवनकी ऐसी पुरानी परम्परामें पोषित हुई है जो उसकी आवश्यक-ताओंको बराबर पूरा करती आयी है, पश्चिमी नमूनेकी नकल करनेकी कोई जरूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए। विशेष परिस्थितियोंवाले किसी एक देशके लिए जो बात अच्छी है, वह भिन्न परिस्थितियोंवाले किसी दूसरे देशके लिए भी अच्छी ही हो, यह जरूरी नहीं है। जो चीज किसी एक आदमीके लिए पोषक आहारका काम देती हो, वही दूसरेके लिए जहर जैसी सिद्ध होती है। किसी देशकी संस्कृतिको निर्धारित करनेमें उसके प्राकृतिक भूगोलका प्रमुख हिस्सा होता है। ध्रुव प्रदेशके निवासीके लिए ऊनी कोट जरूरी हो सकता है, लेकिन भूमध्य-रेखावर्ती प्रदेशोंके निवासियोंका तो उससे दम ही घुट जायगा।[१]

सामान्य बुद्धि रखनेवाले व्यक्तिकी हैसियतसे मैं जानता हूँ कि मनुष्य उद्योगके बिना जिंदा नहीं रह सकता। इसलिए मैं उद्योगीकरणके खिलाफ नहीं हो सकता। लेकिन यंत्रोद्योगके बारेमें एक बड़ी चिंता है। यंत्रसे उत्पादन बहुत तेजीसे होता है और उसके साथ इस प्रकारकी अर्थ-व्यवस्था आ जाती है जिसको मैं समझ

नहीं सकता। ऐसी चीजको स्वीकार नहीं कर सकता जिसके बुरे परिणामोंको मैं उससे होनेवाले लाभकी अपेक्षा ज्यादा पाता हूँ। मैं चाहता हूँ, हमारे देशके करोड़ों बे-जबान लोग स्वस्थ और सुखी हों और आध्यात्मिक दृष्टिसे उनका विकास हो। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए अभीतक हमें यंत्रोंकी आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ भी अभी बहुत हाथ, बहुत ज्यादा हाथ, बेकार हैं। लेकिन जब हमारा बौद्धिक विकास हो जायगा और हमें महसूस होगा कि हमें यंत्रोंकी आवश्यकता है, तब हम अवश्य उनको ग्रहण करेंगे। हमें उद्योग चाहिए, तो इसके लिए हमें उद्यमी बनना होगा। पहले हम स्वावलम्बी बनें तो हमें दूसरोंके नेतृत्वकी उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी। जब और जैसे हमें आवश्यकता होगी, हम यंत्रोंको दाखिल करेंगे। एक बार हम अहिंसाके आधारपर अपना जीवन घड़ लें तब फिर यंत्रोंका नियंत्रण करना हम जान जायेंगे।[२]

पंडित नेहरू उद्योगीकरण चाहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उसका राष्ट्रीय-करण कर देनेसे वह पूँजीवादके दोषोंसे मुक्त हो जायगा। मेरी अपनी राय है कि उद्योगवादमें ये दोष निहित हैं, और कितना भी राष्ट्रीयकरण क्यों न किया जाय उन दोषोंको दूर नहीं किया जा सकता।[३] ...कारखानोंकी सभ्यतापर हम अहिंसाका निर्माण नहीं कर सकते, स्वावलम्बी गाँवोंकी बुनियादपर वह किया जा सकता है ...ग्रामीण आर्थिक रचनाकी जैसी मेरी कल्पना है उसमें शोषण बिलकुल समाप्त हो जाता है, और शोषण तो हिंसाका सार है। इसलिए अगर हमें अहिंसक बनना हो तो पहले ग्रामीण वृत्तिवाला बनना होगा।[४] ...अहिंसापर आधारित समाज गाँवोंमें बसे हुए समुदायोंका ही हो सकता है जहाँ स्वैच्छिक सहयोग एक प्रतिष्ठित और शांतिमय जीवनकी अनिवार्य शर्त है।[५]

...किसीको भी भोजन और वस्त्रका अभाव नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दोंमें, हरएकको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए पर्याप्त काम मिलना चाहिए....(और यह आदर्श सबके लिए तभी प्राप्त हो सकता है जब) जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए जरूरी उत्पादनके साधन जनताके नियंत्रणमें हों। ये सबको मुक्त रूपसे उपलब्ध होने चाहिए जैसे हवा और पानी है, दूसरोंके शोषणके लिए इन्हें व्यापारका साधन नहीं बनाया जाना चाहिए।[६]

मेरा स्पष्ट मत है और मैं उसे साफ-साफ कहता हूँ कि बड़े पैमानेपर माल उत्पन्न करनेका पागलपन ही दुनियाकी मौजूदा संकटमय स्थितिके लिए जिम्मे-दार है। एक क्षणके लिए मान भी लिया जाय कि यंत्र मानव-समाजकी सारी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं, तो भी उसका यह परिणाम तो होगा ही कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रोंमें केन्द्रित हो जायगा और इसलिए वितरणकी योजना-के लिए हमें द्राविड़ी प्राणायाम करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि जिन क्षेत्रोंमें वस्तुओंकी आवश्यकता है वहीं उनका उत्पादन हो और वहीं वितरण हो, तो

वितरणका नियंत्रण अपने-आप हो जाता है। उसमें धोखा-धड़ीके लिए कम गुंजाइश होती है और सट्टेके लिए तो बिलकुल नहीं।

"...जब उत्पादन और उपभोग, दोनों किसी सीमित क्षेत्रमें होते हैं, तो उत्पादन को अनिश्चित हदतक और किसी भी मूल्यपर बढ़ानेका लोभ फिर नहीं रह जाता। उस हालतमें हमारी मौजूदा अर्थ-व्यवस्थासे जो अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ पैदा होती हैं वे भी नहीं रह जायेंगी।[७]

बड़े पैमानेके उत्पादनमें उपभोक्ताकी सच्ची जरूरतोंका ध्यान नहीं रखा जाता। अगर बड़े पैमानेका उत्पादन अपने-आपमें एक हितकारी वस्तु हो, तो उसे अनंतगुना बढ़ सकना चाहिए। लेकिन यह निश्चित रूपसे बताया जा सकता है कि बड़े पैमानेका उत्पादन अपने साथ अपनी मर्यादाएँ लेकर चलता है। अगर दुनियाके समस्त देश बड़े पैमानेकी उत्पादन-पद्धतिको अपना लें, तो उनके मालके लिए बड़े बाजार नहीं मिलेंगे। उस स्थितिमें बड़े पैमानेके उत्पादनको रुकना ही होगा।[८]

यह तो आप देखते ही हैं कि ये राष्ट्र (यूरोप और अमेरिका) दुनियाकी तथाकथित कमजोर या असंगठित जातियोंका शोषण करते हैं। यदि एक बार इन जातियोंको इस चीजका प्राथमिक ज्ञान हो जाय और इस बातका निश्चय कर लें कि वे अब अपना शोषण नहीं होने देंगी, तो फिर वे जो कुछ खुद पैदा कर सकती हैं, उतनेसे ही संतोष कर लेंगी। ऐसा हो तो जहाँतक मुख्य आवश्यकताओंका सम्बन्ध है, बड़े पैमानेका उत्पादन मिट जायगा।[९]

वर्तमान अराजकता और अंधाधुंधीका कारण...आजका (यह) शोषण है।...और यंत्रोंका मेरा बुनियादी विरोध इस सत्यके आधारपर खड़ा है कि यंत्र ही वह चीज है जिसने इन राष्ट्रों (यूरोप और अमेरिका) को दूसरे राष्ट्रोंका शोषण करनेकी क्षमता दी है।[१०]

मेरा विरोध यंत्रोंके संबंधमें फैले हुए 'दीवानेपन' से है, यंत्रोंसे नहीं। परिश्रमका बचाव करनेवाले यंत्रोंके सम्बन्धमें लोगोंका जो दीवानापन है, उसीसे मेरा विरोध है। आज परिश्रमकी बचत इस हदतक की जाती है कि हजारों लोगोंको आखिरमें भूखों मरना पड़ता है और उन्हें तन ढंकनेतकको कपड़ा नहीं मिलता। मुझे भी समय और परिश्रमका बचाव अवश्य करना है; लेकिन वह मुट्ठीभर आदमियोंके लिए नहीं, बल्कि समस्त मानव-जातिके लिए। समय और परिश्रमका बचाव करके मुट्ठीभर आदमी धनाढ्य हो बैठें, यह मेरे लिए असह्य है। आज यंत्रोंके कारण मुट्ठीभर आदमी लाखों लोगोंकी पीठपर सवार होकर बैठे हैं और उन्हें सता रहे हैं; क्योंकि यंत्रोंको चलानेके मूलमें मनुष्यका लोभ है, धनतृष्णा है, जन-कल्याणकी भावना नहीं है। यंत्रोंके इस दुरुपयोगके विरुद्ध मैं अपनी पूरी शक्तिसे लड़ रहा हूँ।[११]

यंत्रोंका भी स्थान है और यंत्रोंने अपना स्थान प्राप्त भी कर लिया है। लेकिन मनुष्योंके लिए जिस प्रकारकी मेहनत करना अनिवार्य होना चाहिए उसी प्रकारकी मेहनतका स्थान उन्हें ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। घरमें चलाने लायक यंत्रोंमें सुधार किये जायँ तो मैं उसका स्वागत करूँगा। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि जबतक लाखों किसानोंको उनके घरमें कोई दूसरा धंधा करनेके लिए न दिया जाय, तबतक हाथ-मेहनतसे चरखा चलानेके बदले किसी दूसरी शक्तिसे कपड़ेका कारखाना चलाना गुनाह है।[१२]

यंत्रोंकी ऊपरी विजयसे चमत्कृत होनेसे मैं इनकार करता हूँ। और मारक यंत्रोंके तो मैं एकदम खिलाफ हूँ, उसमें मैं किसी तरहका समझौता नहीं कर सकता। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों या यंत्रोंका, जो व्यक्तिकी मेहनत बचायें और झोपड़ियोंमें रहनेवाले लाखों-करोड़ों लोगोंका बोझ कम करें, मैं जरूर स्वागत करूँगा।[१३]

जीवित और जड़ यन्त्रोंकी प्रतिद्वन्द्विता

हिन्दुस्तानके सात लाख गाँवोंमें फैले हुए ग्रामवासी-रूपी करोड़ों जीवित यंत्रोंके विरुद्ध जड़ यंत्रोंको प्रतिद्वंद्वितामें नहीं लाना चाहिए। यंत्रोंका सदुपयोग तो यह कहा जायगा कि उससे मनुष्यके प्रयत्नको सहारा मिले और उसे वह आसान बना दे। यंत्रोंके मौजूदा उपयोगका झुकाव तो इस ओर ही बढ़ता जा रहा है कि कुछ इने-गिने लोगोंके हाथमें खूब संपत्ति पहुँचायी जाय और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषोंके मुँहसे रोटी छीन ली जाती है, उन बेचारोंकी जरा भी परवाह न की जाय।[१४]

बड़े पैमानेपर उद्योगीकरणका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्धा और बाजारकी समस्याएँ खड़ी होंगी, त्यों-त्यों गाँवोंका प्रकट या अप्रकट शोषण होगा। इसलिए हमें अपनी शक्ति इसी प्रयत्नपर केन्द्रित करनी चाहिए कि गाँव स्वयंपूर्ण बनें और वस्तुओंका निर्माण और उत्पादन अपने उपयोगके लिए करें। यदि उत्पादनकी यह पद्धति स्वीकार कर ली जाय तो फिर गाँववाले ऐसे आधुनिक यंत्रों और औजारोंका, जिन्हें वे बना सकते हों और जिनका उपयोग उन्हें आर्थिक दृष्टिसे पुसा सकता हो, उपयोग खुशीसे करें। उसपर आपत्ति नहीं की जा सकती। अलबत्ता, उनका उपयोग दूसरोंका शोषण करनेके लिए नहीं होना चाहिए।[१५]

मैं नहीं मानता कि उद्योगीकरण हर हालतमें किसी भी देशके लिए जरूरी ही है। भारतके लिए तो वह उससे भी कम जरूरी है। मेरा विश्वास है कि आजाद भारत दुःखसे कराहती हुई दुनियाके प्रति अपने कर्तव्यका ऋण अपने गाँवोंका विकास करके और दुनियाके साथ मित्रताका व्यवहार करके और इस तरह सादा परन्तु उदात्त जीवन अपनाकर ही चुका सकता है। धनकी पूजाने

हमारे ऊपर भौतिक समृद्धिके जिस जटिल और शीघ्रगामी जीवनको लाद दिया है, उसके साथ 'उच्च चिन्तन' का मेल नहीं बैठता। जीवनका सम्पूर्ण सौन्दर्य तभी खिल सकता है, जब हम उच्च कोटिका जीवन जीना सीखें।[१६]

विकेन्द्रीकरणकी अनिवार्यता

हमारा ध्येय लोगोंको सुखी बनाना और साथ-साथ उनकी संपूर्ण बौद्धिक और नैतिक–यानी आध्यात्मिक–उन्नति सिद्ध करना है। वह ध्येय विकेन्द्रीकरणसे ही सध सकता है। केन्द्रीकरणकी पद्धतिका अहिंसक समाज-रचनाके साथ मेल नहीं बैठता।[१७]

यदि भारतको अपना विकास अहिंसाकी दिशामें करना है, तो उसे बहुत-सी चीजोंका विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीकरण किया जाय तो फिर उसे कायम रखनेके लिए और उसकी रक्षाके लिए हिंसाबल अनिवार्य है। जिनमें चोरी करने या लूटनेके लिए कुछ है ही नहीं, ऐसे सादे घरोंकी रक्षाके लिए पुलिसकी जरूरत नहीं होती। लेकिन धनवानोंके महलोंके लिए अवश्य बलवान् पहरेदार चाहिए, जो डाकुओंसे उनकी रक्षा करें। यही बात बड़े-बड़े कारखानोंकी है। गाँवोंको मुख्य मानकर जिस भारतका निर्माण होगा, उसे शहर-प्रधान भारतकी अपेक्षा—शहर-प्रधान भारत जल, स्थल और वायुसेनाओंसे सुसज्जित होगा तो भी—विदेशी आक्रमणका कम खतरा रहेगा।[१८]

किसी अलग-थलग रहनेवाले देशके लिए, भले वह भू-विस्तार और जनसंख्या की दृष्टिसे कितना भी बड़ा क्यों न हो, ऐसी दुनियामें जो शस्त्रास्त्रोंसे सिरसे पाँवतक लदी है और जिसमें सर्वत्र वैभव-विलासका ही वातावरण नजर आता है, ऐसा सादा जीवन जीना सम्भव है या नहीं—यह ऐसा सवाल है, जिसमें संशयशील आदमीको अवश्य सन्देह होगा। लेकिन इसका उत्तर सीधा है। यदि सादा जीवन जीने योग्य है, तो यह प्रयत्न भी करने योग्य है, चाहे वह प्रयत्न किसी एक ही व्यक्ति या किसी एक ही समुदायद्वारा क्यों न किया जाय।

लेकिन साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ प्रमुख उद्योग (बड़े पैमानेके) आवश्यक हैं। न तो आरामकुर्सीवाले और न हिंसावाले समाजवादमें मेरा विश्वास है। मैं तो अपने विश्वासके अनुसार आचरण करनेमें मानता हूँ और उसके लिए सब लोग मेरी बात मान लें, तबतक ठहरना अनावश्यक समझता हूँ। इसलिए इन प्रमुख उद्योगोंको गिनाये बिना ही मैं कह देता हूँ कि जहाँ कहीं भी लोगोंको काफी बड़ी संख्यामें मिलकर काम करना पड़ता है, वहाँ मैं राज्यकी मालिकीकी हिमायत करूँगा। उनकी कुशल या अकुशल मेहनतसे जो कुछ उत्पन्न होगा, उसकी मालिकी राज्यके द्वारा उनकी ही होगी। लेकिन चूँकि मैं तो इस राज्यके अहिंसापर ही आधारित होनेकी कल्पना कर सकता हूँ, इसलिए मैं अमीरोंसे

उनकी सम्पत्ति बलपूर्वक नहीं छीनूंगा, बल्कि उक्त उद्योगोंपर राज्यकी मालिकी कायम करनेकी प्रक्रियामें उनका सहयोग माँगूंगा। अमीर हों या कंगाल, समाजमें कोई भी वर्ग अछूत या पतित नहीं है। अमीर और गरीब दोनों एक ही रोगके दो रूप हैं। और सत्य यह है कि कोई कैसा भी हो, हैं तो सब मनुष्य ही।[१९]

विकेन्द्रित व्यवस्था और सुरक्षा

इस समय शक्तिका केन्द्र दिल्ली, कलकत्ता या बम्बईमें, बड़े शहरोंमें है। मैं इस शक्तिको भारतके सात लाख गाँवोंमें बाँट देना चाहूँगा…इम्पीरियल बैंकमें जो सात लाख डालर हैं* उन्हें बैंकसे निकालकर भारतके सात लाख गाँवोंमें बाँट दूंगा। तब हर गाँवके पास अपना डालर होगा जो खोया नहीं जा सकता। इम्पीरियल बैंकमें रखे हुए सात लाख डालर जापानी हवाई जहाजके एक बमसे नष्ट हो सकते हैं। लेकिन अगर वे सात लाख साझीदारोंमें वितरित रहें तो कोई उन्हें नष्ट नहीं कर सकेगा।[२०]

…सादे घरोंके लिए जहाँसे ले जानेको कुछ नहीं हो पुलिसकी आवश्यकता नहीं है। लेकिन अमीर आदमियोंके महलोंकी डाकुओंसे रक्षाके लिए मजबूत पहरेदार चाहिए। इसी तरह बड़े-बड़े कारखानोंके लिए भी। ग्रामीण व्यवस्था-वाले भारतको विदेशी हमलोंका खतरा कम रहेगा बनिस्बत जल, स्थल, और वायु-सेनासे सुरक्षित शहरोंवाले भारतको।[२१]

६. पसीनेकी रोटी

अपने देशमें जो भयानक गरीबी और बेकारी है, उसे देखकर मुझे रोना आया है। लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस स्थितिके लिए हमारी अपनी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर-श्रम करनेमें जो गौरव है, उसे हम नहीं जानते। उदाहरणके लिए, मोची (भी) जूते बनानेके सिवा कोई दूसरा काम नहीं करता, वह ऐसा समझता है कि दूसरे काम उसकी प्रतिष्ठाके अनुकूल नहीं हैं। यह गलत खयाल दूर होना चाहिए। उन सब लोगोंके लिए, जो अपने हाथों और पाँवोंसे ईमानदारीके साथ मेहनत करना चाहते हैं, हिन्दुस्तानमें काफी धंधा है। ईश्वरने हरएकको काम करनेकी और अपनी रोजकी रोटीसे ज्यादा कमानेकी क्षमता दी है। और जो भी इस क्षमताका उपयोग करनेके लिए तैयार हो, उसे काम अवश्य मिल सकता है। ईमानकी कमाई करनेकी इच्छा रखनेवालेको चाहिए कि

* भारत-सरकार का संग्रह जो उस समय इम्पीरियल बैंक में जमा था।—सं०

वह किसी भी कामको नीचा न माने। जरूरत इस बातकी है कि ईश्वरने हमें जो हाथ-पाँव दिये हैं, हम उनका उपयोग करनेके लिए तैयार रहें।[1]

महान् प्रकृतिकी इच्छा तो यही है कि हम अपनी रोटी पसीना बहाकर कमायें। इसलिए जो आदमी अपना एक मिनट भी बेकारीमें बिताता है, वह उस हदतक अपने पड़ोसियोंपर बोझ बनता है। और ऐसा करना अहिंसाके बिलकुल पहले ही नियमका उल्लंघन करना है।…अहिंसा यदि अपने पड़ोसीके हितका खयाल रखना न हो तब तो उसका कोई अर्थ ही न रहे। आलसी आदमी अहिंसाकी इस प्रारंभिक कसौटीमें ही खोटा सिद्ध होता है।[2]

रोटीके लिए हरएक मनुष्यको मजदूरी करना चाहिए, शरीरको (कमरको) झुकाना चाहिए, यह ईश्वरका कानून है।…इसकी झाँकी मेरी आँखें भगवद्गीता-के तीसरे अध्यायमें करती हैं। यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरीका अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ न करनेवालेको दिया गया है। यहाँ यज्ञका अर्थ स्वयंकी मेहनत या रोटी-मजदूरी (पसीनेकी कमाई) ही शोभता है और मेरी रायमें यही मुमकिन है।

…बुद्धि भी हमें इसी चीजकी ओर ले जाती है। जो मजदूरी नहीं करता उसे खानेका क्या हक है? बाइबल कहती है: "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमा और खा।" करोड़पति भी अगर अपने पलंगपर लोटता रहे और उसके मुँहमें कोई खाना डाले तब खाये, तो वह ज्यादा देरतक खा नहीं सकेगा, इसमें उसको मजा भी नहीं आयेगा। इसलिए वह कसरत वगैरह करके भूख पैदा करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुँह हिलाकर। अगर यों किसी-न-किसी रूपमें अंगोंकी कसरत राय-रंक सबको करनी ही पड़ती है, तो रोटी पैदा करनेकी कसरत ही सब क्यों न करें? यह सवाल कुदरती तौरपर उठता है। किसानको हवाखोरी या कसरत करनेके लिए कोई कहता नहीं है और दुनियाके ९० फीसदी-से भी ज्यादा लोगोंका निर्वाह खेतीपर होता है। बाकीके १० फीसदी लोग अगर इनकी नकल करें तो जगत्में कितना सुख, कितनी शांति और कितनी तन्दुरुस्ती फैल जाय? और अगर खेतीके साथ बुद्धि भी मिले तो खेतीसे संबंध रखनेवाली बहुत-सी मुसीबतें आसानीसे दूर हो जायेंगी। फिर, अगर इस शरीर-श्रमके निरपवाद कानूनको सब मानें तो ऊँच-नीचका भेद (भी) मिट जाय।

आज तो जहाँ ऊँच-नीचकी गंध भी नहीं थी, वहाँ यानी वर्ण-व्यवस्थामें भी वह घुस गयी है। मालिक-मजदूरका भेद आम और स्थायी हो गया है और गरीब धनवान्से जलता है। अगर सब रोटीके लिए मजदूरी करें, तो ऊँच-नीचका भेद न रहे, और फिर भी धनिक वर्ग रहेगा तो वह खुदको मालिक नहीं, बल्कि उस धनका रखवाला या ट्रस्टी मानेगा और उसका ज्यादातर उपयोग सिर्फ लोगोंकी सेवाके लिए ही करेगा।

जिसे अहिंसाका पालन करना है, सत्यकी भक्ति करनी है, ब्रह्मचर्यको कुदरती बनाना है, उसके लिए तो जात-मेहनत (शरीर-श्रम) रामबाण-सी हो जाती है। यह मेहनत सचमुच तो खेतीमें ही है। लेकिन सब खेती नहीं कर सकते, ऐसी आज तो हालत है ही। इसलिए खेतीके आदर्शको खयालमें रखकर खेतीके एवजमें आदमी भले दूसरी मजदूरी करे——जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी वगैरा-वगैरा। सबको खुदके भंगी तो बनना ही चाहिए। जो खाता है वह टट्टी तो फिरेगा ही। जो टट्टी फिरता है वही अपनी टट्टी जमीनमें गाड़ दे, यह उत्तम रिवाज है। अगर यह नहीं ही हो सके तो प्रत्येक कुटुम्ब अपना यह फर्ज अदा करे।

जिस समाजमें भंगीका अलग पेशा माना गया है, वहाँ कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे तो बरसोंसे लगता रहा है। इस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढ़ानेवाले (आरोग्य-पोषक) कामको सबसे नीचा काम पहले-पहल किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने माना उसने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं, यह भावना हमारे मनमें बचपनसे ही जम जानी चाहिए, और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो समझ गये हैं वे शरीर-श्रमका आरम्भ पाखाना-सफाईसे करें। जो समझ-बूझकर, ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह उसी क्षणसे धर्मको निराले ढंगसे और सही तरीकेसे समझने लगेगा।[3]

यदि सब लोग अपने ही परिश्रमकी कमाई खायें, तो दुनियामें अन्नकी कमी न रहे और सबको अवकाशका काफी समय भी मिले। न तब किसीको जनसंख्याकी वृद्धिकी शिकायत रहे, न कोई बीमारी आये, और न मनुष्यको कोई कष्ट या क्लेश ही सताये। वह श्रम उच्च-से-उच्च प्रकारका यज्ञ होगा। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धिके द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर उनका वह सब श्रम लोक-कल्याणके लिए प्रेमका श्रम होगा। उस अवस्थामें न कोई राव होगा, न कोई रंक, न कोई ऊँच होगा, न कोई नीच, न कोई स्पृश्य रहेगा, न कोई अस्पृश्य।

भले ही वह एक अलभ्य आदर्श हो, पर इस कारण हमें अपना प्रयत्न बन्द कर देनेकी जरूरत नहीं। यज्ञके सम्पूर्ण नियमको अर्थात् अपने 'जीवनके नियम' को पूरा किये बिना भी अगर हम अपने नित्यके निर्वाहके लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करेंगे, तो उस आदर्शके बहुत कुछ निकट तो हम पहुँच ही जायेंगे।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी आवश्यकताएँ बहुत कम हो जायेंगी। और हमारा भोजन भी सादा बन जायगा। तब हम जीनेके लिए खायेंगे, न कि खानेके लिए जीयेंगे। इस बातकी यथार्थतामें जिसे शंका हो, वह अपने परिश्रमकी कमाई खानेका प्रयत्न करे। अपने पसीनेकी कमाई खानेमें उसे कुछ और ही स्वाद मिलेगा, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा, और उसे यह मालूम हो जायगा कि जो बहुत-सी विलासकी चीजें उसने अपने ऊपर लाद रखी थीं, वे सब बिलकुल ही फिजूल थीं।[4]

बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर-श्रम समाज-सेवाका सर्वोत्कृष्ट रूप है। यहाँ

शरीर-श्रम शब्दके साथ 'बुद्धिपूर्वक किया हुआ' विशेषण यह दिखानेके लिए जोड़ा गया है कि किये हुए शरीर-श्रमके पीछे समाज-सेवाका निश्चित उद्देश्य हो तभी इसे समाज-सेवाका दरजा मिल सकता है। ऐसा न हो, तब तो कहा जायगा कि हरएक मजदूर समाज-सेवा करता ही है। वैसे, एक अर्थमें यह कथन सही भी है, लेकिन यहाँ उससे कुछ ज्यादा अभीष्ट है। जो आदमी सब लोगोंके सामान्य कल्याण-के लिए परिश्रम करता है वह जरूर समाजकी ही सेवा करता है और उसकी आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। इसलिए ऐसा शरीर-श्रम समाज-सेवासे भिन्न नहीं है।' ···(पर) पसीनेकी कमाईके इस प्राकृतिक नियमका मजबूरीमें किया हुआ पालन गरीबी, रोग और असंतोषको जन्म देता है। वह तो एक प्रकारकी गुलामी है। इसके स्वेच्छापूर्वक पालनसे ही संतोष और स्वास्थ्य मिल सकता है।'

क्या मनुष्य अपने बौद्धिक श्रमसे अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? नहीं। शरीरकी आवश्यकताएँ शरीरद्वारा ही पूरी होनी चाहिए। केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्माके लिए और स्वयं अपने ही संतोषके लिए है। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना चाहिए। आदर्श राज्यमें डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाजके लाभके लिए काम करेंगे, अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रमके धर्मका पालन करनेसे समाजकी रचनामें एक शान्त क्रान्ति हो जायगी। मनुष्यकी विजय इसमें होगी कि उसने जीवन-संग्रामके बजाय परस्पर सेवाके संग्रामकी स्थापना कर दी। पशुधर्मके स्थानपर मानव-धर्म कायम हो जायगा।'

वह कुदिन ही होगा जिस दिनसे इस अभागे देशमें परिश्रमको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे होंगे और इस प्रकार उसकी उपेक्षा करने लगे होंगे। लाखों-करोड़ों मनुष्य, जो दुनियाके हीरे थे और जिनके उद्योगपर यह देश जी रहा था, नीच समझे जाने लगे और ऊपरसे बड़े दीखनेवाले थोड़ेसे अहदी आदमियोंका वर्ग प्रतिष्ठित समझा जाने लगा। इसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि भारतको नैतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकारकी भारी क्षति पहुँची। यह हिसाब लगाना असंभव नहीं तो कठिन जरूर है कि इन दोनोंमेंसे कौन-सी हानि बड़ी थी। किन्तु किसानों और कारीगरोंके प्रति बतायी गयी इस अपराधपूर्ण लापरवाहीने हमें दरिद्र, मूढ़ और काहिल बनाकर ही छोड़ा। भारतके पास कौनसे साधन नहीं हैं? उसका सुन्दर जलवायु, उसके गगनचुम्बी पर्वत, उसकी विशाल नदियाँ और उसका विस्तृत समुद्र—ये सब ऐसे असीम साधन हैं कि अगर इन सबका पूरा-पूरा उपयोग किया जाय, तो इस स्वर्ण देशमें दारिद्र्य और रोग आयें ही क्यों? पर जबसे हमने शारीरिक श्रमसे बुद्धिका सम्बन्ध छुड़ाया, तबसे हमारी कौमका सब तरहसे पतन हो गया, दुनियामें आज हम सबसे अल्पजीवी, निपट साधनहीन और अत्यंत पराजित प्रजा माने जाते हैं।'

७. परिग्रह सभ्यताका लक्षण नहीं, चोरी है

एक हदतक शारीरिक सुविधा और आरामका होना जरूरी है, लेकिन उस हदसे आगे बढ़नेपर ये सुविधाएँ और आराम सहायक बननेके बजाय हमारी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक बन जाते हैं। इसलिए बेहद जरूरतें बढ़ाने और उन्हें पूरा करनेका आदर्श निरा भ्रम और जाल ही है। मनुष्यकी शारीरिक जरूरतें पूरी करनेका, यहाँतक कि उसकी संकुचित बौद्धिक जरूरतें पूरी करनेका भी, अमुक हदके बाद अंत आना चाहिए; क्योंकि इस मर्यादाको लाँघनेपर वह प्रयत्न शारीरिक और बौद्धिक विलासका रूप ले लेता है। मनुष्यको अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओंकी ऐसे ढंगसे व्यवस्था करनी चाहिए कि वे उसकी मानव-सेवामें बाधक न बनें। मनुष्यकी सारी शक्तियोंका उपयोग मानव-सेवामें ही होना चाहिए।[1]

सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि सोच-समझकर और अपनी इच्छासे उसे कम करना है। ज्यों-ज्यों हम परिग्रह घटाते जाते हैं त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है, सेवाकी शक्ति बढ़ती जाती है। अभ्याससे, आदत डालनेसे आदमी अपनी जरूरतें घटा सकता है, और ज्यों-ज्यों उन्हें घटाया जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शान्त और सब तरहसे तन्दुरुस्त होता जाता है।[2]

सुनहला नियम तो···यह है कि जो चीज लाखों लोगोंको नहीं मिल सकती उसे लेनेसे हम भी दृढ़तापूर्वक इनकार कर दें। त्यागकी यह शक्ति हमें कहींसे एकाएक नहीं मिल जायगी। पहले तो हमें ऐसी मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि हमें उन सुख-सुविधाओंका उपयोग नहीं करना है जिनसे लाखों लोग वंचित हैं। और उसके बाद तुरन्त ही, अपनी इस मनोवृत्तिके अनुसार हमें शीघ्रतापूर्वक अपना जीवन बदलनेमें लग जाना चाहिए।[3]

अपरिग्रहका अस्तेय (चोरी न करने) के साथ चोली-दामनका संबंध है। कोई चीज वास्तवमें चुराई नहीं गयी हो तो भी अगर हम आवश्यकताके बिना उसका संग्रह करते हैं, तो वह चोरीका माल समझा जाना चाहिए। परिग्रहका अर्थ है भविष्यके लिए संग्रह करना।···रोजकी जरूरत जितना ही रोज पैदा करनेका ईश्वरका नियम हम नहीं जानते या जानते हुए भी उसे पालते नहीं, इसलिए जगत्में असमानता और उसमेंसे पैदा होनेवाले तमाम दुःख हम भुगतते हैं। अमीरके यहाँ उसको न चाहिए वैसी चीजें भरी पड़ी होती हैं, वे लापरवाहीसे खो जाती हैं, बिगड़ जाती हैं जब कि इन्हीं चीजोंकी कमीके कारण करोड़ों लोग भटकते हैं, भूखों मरते हैं, ठंडसे ठिठुर जाते हैं। सब अगर अपनी जरूरतकी चीजोंका ही संग्रह करें, तो किसीको तंगी महसूस न हो और सबको संतोष हो। आज तो दोनों

तंगी महसूस करते हैं। करोड़पति अरबपति होना चाहता है, फिर भी उसको संतोष नहीं होता। कंगाल करोड़पति होना चाहता है। कंगालको भरपेट ही मिलनेसे संतोष होता हो, ऐसा नहीं देखा जाता। फिर भी उसे भरपेट पानेका हक है, और उसे उतना पानेवाला बनाना समाजका फर्ज है। इसलिए उस गरीबके और अपने संतोषके खातिर अमीरको पहल करनी चाहिए। अगर वह अपना बहुत ज्यादा परिग्रह छोड़े तो कंगालको अपनी जरूरतका आसानीसे मिल जाय और दोनों पक्ष संतोषका सबक सीखें।[४]

मैं कहना चाहता हूँ कि हम सब एक तरहसे चोर हैं। अगर मैं कोई ऐसी चीज लेता और रखता हूँ, जिसकी मुझे अपने किसी तात्कालिक उपयोगके लिए जरूरत नहीं है, तो मैं उसकी किसी दूसरेसे चोरी ही करता हूँ। यह प्रकृतिका एक निरपवाद बुनियादी नियम है कि वह रोज केवल उतना ही पैदा करती है जितना हमें चाहिए। और यदि हरएक आदमी जितना उसे चाहिए उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनियामें गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे। मैं समाज-वादी नहीं हूँ और जिनके पास सम्पत्तिका संचय है, उनसे मैं उसे छीनना नहीं चाहता। लेकिन मैं यह जरूर कहता हूँ कि हममेंसे जो लोग प्रकाशकी खोजमें प्रयत्नशील हैं, उन्हें व्यक्तिगत तौरपर इस नियमका पालन करना चाहिए। मैं किसीसे उसकी सम्पत्ति छीनना नहीं चाहता, क्योंकि वैसा करूँ तो मैं अहिंसाके नियमसे च्युत हो जाऊँगा। यदि किसीके पास मेरी अपेक्षा ज्यादा सम्पत्ति है तो भले रहे। लेकिन यदि मुझे अपना जीवन नियमके अनुसार गढ़ना है, तो मैं ऐसी कोई चीज अपने पास नहीं रख सकता जिसकी मुझे जरूरत नहीं है। भारतमें लाखों लोग ऐसे हैं, जिन्हें दिनमें केवल एक ही बार खाकर संतोष कर लेना पड़ता है और उनके उस भोजनमें भी सूखी रोटी और चुटकीभर नमक-के सिवा और कुछ नहीं होता। हमारे पास जो कुछ भी है उसपर हमें और आपको तबतक कोई अधिकार नहीं है, जबतक इन लोगोंके पास पहननेके लिए कपड़ा और खानेके लिए अन्न नहीं हो जाता। हममें और आपमें ज्यादा समझ होनेकी आशा की जाती है। अतः हमें अपनी जरूरतोंका नियमन करना चाहिए और स्वेच्छापूर्वक अमुक अभाव भी सहना चाहिए, जिससे कि उन गरीबोंका पालन-पोषण हो सके, उन्हें कपड़ा और अन्न मिल सके।[५]

मनुष्यकी वृत्तियाँ चंचल हैं। उसका मन बेकारकी दौड़-धूप किया करता है। उसका शरीर जैसे-जैसे ज्यादा देते जायँ वैसे-वैसे ज्यादा माँगता जाता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगनेसे भोगकी इच्छा बढ़ती जाती है। इसलिए हमारे पुरखोंने भोगकी हद बाँध दी। बहुत सोचकर उन्होंने देखा कि सुख-दुःख तो मनके कारण हैं। अमीर अपनी अमीरीकी वजहसे सुखी नहीं है, गरीब अपनी गरीबीके कारण दुःखी नहीं है। अमीर दुःखी देखनेमें आता है और

गरीब सुखी देखनेमें आता है। करोड़ों लोग तो गरीब ही रहेंगे। ऐसा देखकर पूर्वजोंने भोगकी वासना छुड़वायी। हजारों साल पहले जो हल काममें लिया जाता था, उससे हमने काम चलाया। हजारों साल पहले जैसे झोपड़े थे उन्हें हमने कायम रखा। हजारों साल पहले जैसी हमारी शिक्षा थी वही चलती आयी। हमने नाशकारक होड़को जगह नहीं दी। सब अपना-अपना धंधा करते रहे। उसमें उन्होंने दस्तूरके मुताबिक दाम लिये। ऐसा नहीं था कि हमें यंत्र वगैराकी खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजोंने देखा कि लोग अगर यंत्र वगैराकी झंझटमें पड़ेंगे, तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीतिको छोड़ देंगे। उन्होंने सोच-समझकर कहा कि हमें हाथ-पैरोंसे जो काम हो सके वही करना चाहिए। हाथ-पैरोंका इस्तेमाल करनेमें ही सच्चा सुख है, उसीमें तन्दुरुस्ती है।

उन्होंने सोचा कि बड़े शहर कायम करना बेकारकी झंझट है। उनमें लोग सुखी नहीं होंगे। उनमें धूर्तोंकी टोलियाँ और वेश्याओंकी गलियाँ पैदा होंगी, गरीब अमीरोंसे लूटे जायेंगे। इसलिए उन्होंने छोटे गाँवोंसे ही संतोष माना।

उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवारके बनिस्बत नीतिका बल ज्यादा बलवान् है। इसलिए उन्होंने राजाओंको नीतिवान् पुरुषों—ऋषियों और फकीरों—से कम दरजेका माना।[१]

८. सर्व-कल्याणकारी जीवन-पद्धति

मेरी रायमें भारतकी—न सिर्फ भारतकी बल्कि सारी दुनियाकी—अर्थ-रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसीको भी अन्न और वस्त्रके अभावकी तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दोंमें, हरएकको इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहननेकी जरूरतें पूरी कर सके। और यह आदर्श निरपवाद रूपसे तभी कार्यान्वित किया जा सकता है, जब जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताओंके उत्पादनके साधन जनताके नियंत्रणमें रहें। वे हरएकको बिना किसी बाधाके उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए जिस तरह कि भगवान्की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध है, किसी भी हालतमें वे दूसरोंके शोषणके लिए चलाये जानेवाले व्यापारका वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदायका उनपर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुःखी देशमें, बल्कि दुनियाके दूसरे हिस्सोंमें भी, जो गरीबी देखते हैं उसका कारण इस सरल सिद्धान्तकी उपेक्षा ही है।[१]

मैं अर्थविद्या और नीतिविद्यामें···कोई···भेद नहीं करता।···जिस अर्थविद्यासे व्यक्ति या राष्ट्रके नैतिक कल्याणको हानि पहुँचती हो, उसे मैं अनीतिमय और पापपूर्ण कहूँगा। उदाहरणके लिए, जो अर्थविद्या किसी देशको किसी दूसरे

देशका शोषण करनेकी अनुमति देती है, वह अनैतिक है। जो मजदूरोंको योग्य मेहनताना नहीं देते और उनके परिश्रमका शोषण करते हैं, उनसे वस्तुएँ खरीदना या उन वस्तुओंका उपयोग करना पापपूर्ण है ।[२]

जिस तरह सच्चे नीतिधर्ममें और अच्छे अर्थशास्त्रमें कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीतिधर्मके ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शका विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धनकी पूजा करना सिखाता है और बलवानोंको दुर्बलोंका शोषण करके धनका संग्रह करनेकी सुविधा देता है, उसे शास्त्रका नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अपनाकर हम मृत्युको न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्यायकी हिमायत करता है, वह समान भावसे सबकी भलाईका—जिनमें कमजोर भी शामिल हैं—प्रयत्न करता है और वह सभ्यजनोचित सुन्दर जीवनके लिए अनिवार्य है ।[३]

मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करनेवाले वर्गोंको सैकड़ों वर्षोंसे सभ्य समाजसे अलग रखा गया है और उन्हें नीचा दरजा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्दका यह अर्थ किया गया है कि वे दूसरे वर्गोंसे नीचे हैं। मैं बुनकर, किसान और शिक्षकके लड़कोंमें कोई भेद नहीं होने दे सकता ।[४]

रचनात्मक कामका यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज्यकी मुख्य चाबी है। आर्थिक समानताके लिए काम करनेका मतलब है, पूँजी और मजदूरीके बीचके झगड़ोंको हमेशाके लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओरसे जिन मुट्ठीभर पैसेवाले लोगोंके हाथमें राष्ट्रकी संपत्तिका बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी संपत्तिको कम करना और दूसरी ओरसे जो करोड़ों लोग अधपेट खाते और नंगे रहते हैं, उनकी संपत्तिमें वृद्धि करना। जबतक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों भूखे रहनेवालोंके बीच बेइन्तहा अन्तर बना रहेगा, तबतक अहिंसाकी बुनियादपर चलनेवाली राज-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तानमें देशके बड़े-से-बड़े धनवानोंके हाथमें हुकूमतका जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबोंके हाथमें भी होगा, और तब नई दिल्लीके महलों और उनकी बगलमें बसी हुई गरीब मजदूर बस्तियोंके टूटे-फूटे झोपड़ोंके बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिनको भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान् लोग अपने धनको और उसके कारण मिलनेवाली सत्ताको खुद राजी-खुशीसे छोड़कर और सबके कल्याणके लिए सबके साथ मिलकर बरतनेको तैयार न होंगे, तो यह तय समझिये कि हमारे देशमें हिंसक और खूँख्वार क्रांति हुए बिना नहीं रहेगी ।[५]

आर्थिक समानता, अर्थात् जगत् (में सब) के पास समान सम्पत्तिका होना, यानी सबके पास इतनी सम्पत्तिका होना कि जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ

पूरी कर सकें। कुदरतने ही एक आदमीका हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके, और दूसरेको बीस तोला अन्न खानेकी आवश्यकता हो, तो दोनोंको अपनी पाचनशक्तिके अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाजकी रचना इस आदर्शके आधारपर होनी चाहिए। अहिंसक समाजका दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। पूर्ण आदर्शतक हम कभी नहीं पहुँच सकते। मगर उसे नजरमें रखकर हम ··· व्यवस्था करें। जिस हदतक हम इस आदर्शको पहुँच सकेंगे, उसी हदतक सुख और संतोष प्राप्त करेंगे और उसी हदतक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी।

इस आर्थिक समानताके धर्मका पालन एक अकेला मनुष्य भी कर सकता है। दूसरोंके साथकी उसे आवश्यकता नहीं रहती। ···यह कहनेकी जरूरत इसीलिए है कि किसी भी धर्मके पालनमें जहाँतक दूसरे उसका पालन करें वहाँतक हमें रुके रहनेकी आवश्यकता नहीं। और फिर ध्येयकी आखिरी हदतक न पहुँच सकें वहाँ-तक कुछ भी त्याग न करनेकी वृत्ति बहुधा लोगोंमें देखनेमें आती है। यह भी हमारी गतिको रोकती है।

अहिंसाके द्वारा (यह) आर्थिक समानता कैसे लायी जा सकती है? इसका विचार करें। पहला कदम यह है कि जिसने इस आदर्शको अपनाया हो, वह अपने जीवनमें आवश्यक परिवर्तन करे। हिन्दुस्तानकी गरीब प्रजाके साथ अपनी तुलना करके अपनी आवश्यकताएँ कम करे। अपनी धन कमानेकी शक्तिको नियंत्रणमें रखे। जो धन कमाये उसे ईमानदारीसे कमानेका निश्चय करे। सट्टेकी वृत्ति हो तो उसका त्याग करे। घर भी अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी करने लायक ही रखे और जीवनको हर तरहसे संयमी बनाये। अपने जीवनमें संभव सुधार कर लेनेके बाद अपने मिलने-जुलनेवाले और अपने पड़ोसियोंमें समानताके आदर्शका प्रचार करे।

आर्थिक समानताकी जड़में धनिकका ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्शके अनुसार धनिकको अपने पड़ोसीसे एक कौड़ी भी ज्यादा रखनेका अधिकार नहीं है। तब उसके पास जो ज्यादा है, क्या वह उससे छीन लिया जाय? ऐसा करनेके लिए हिंसाका आश्रय लेना पड़ेगा। और हिंसाके द्वारा ऐसा करना संभव हो, तो भी समाजको उससे कुछ फायदा होनेवाला नहीं है। क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करनेकी शक्ति रखनेवाले एक आदमीकी शक्तिको समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सकें उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनेके बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह प्रजाकी ओरसे ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकतासे संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने-आपको समाजका सेवक मानेगा, समाजके खातिर धन कमायेगा, समाजके कल्याणके लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाईमें शुद्धता आयेगी।

उसके साहसमें भी अहिंसा होगी। इस प्रकारकी कार्य-प्रणालीका आयोजन किया जाय तो समाजमें वगैर संघर्षके मूक क्रान्ति पैदा हो सकती है।

इस प्रकार मनुष्य-स्वभावमें परिवर्तन होनेका उल्लेख इतिहासमें कहीं देखा गया है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। व्यक्तियोंमें तो ऐसा हुआ ही है। बड़े मानेपर समाजमें परिवर्तन हुआ है, यह शायद सिद्ध न किया जा सके। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यापक अहिंसाका प्रयोग आजतक नहीं किया गया। हम लोगों-के हृदयमें इस झूठी मान्यताने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूपसे ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्तितक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी है नहीं। अहिंसा सामाजिक धर्म है, सामाजिक धर्मके तौरपर वह विकसित किया जा सकता है, वह मनवानेका मेरा प्रयत्न और प्रयोग है। यह नयी चीज है, इसलिए इसे झूठ समझकर फेंक देनेकी वात इस युगमें तो कोई नहीं कहेगा। यह कठिन है, इसलिए अशक्य है, यह भी इस युगमें कोई नहीं कहेगा। क्योंकि बहुत-सी चीजें अपनी आँखोंके सामने नयी-पुरानी होती हमने देखी हैं। मेरी यह मान्यता है कि अहिंसाके क्षेत्रमें इससे बहुत ज्यादा साहस शक्य है, और विविध धर्मों-के इतिहास इस बातके प्रमाणोंसे भरे पड़े हैं।...

किन्तु महाप्रयत्न करनेपर भी धनिक संरक्षक न बनें, और भूखों मरते हुए करोड़ोंको अहिंसाके नामसे और अधिक कुचलते जायँ तब क्या करें? इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़नेमें ही अहिंसक कानून-भंग (सिविल डिस-ओबीडियेन्स) प्राप्त हुआ। कोई धनवान् गरीबोंके सहयोगके बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्यको अपनी हिंसक शक्तिका भान है, क्योंकि वह उसे लाखों वर्षोंसे विरासतमें मिली हुई है। जब उसे चार पैरकी जगह दो पैर और दो हाथवाले प्राणीका आकार मिला, तब उसमें अहिंसक शक्ति भी आयी। अहिंसा-शक्तिका भान भी धीरे-धीरे, किन्तु अचूक रीतिसे रोज-रोज बढ़ने लगा। वह भान गरीबोंमें प्रसार पा जाय, तो वे बलवान् बनें और आर्थिक असमानताको, जिसके कि वे शिकार बने हुए हैं, अहिंसक तरीकेसे दूर करना सीख लें।[६]

आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानून-शास्त्रकी एक कल्पनामात्र है, व्यव-हारमें उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उसपर सतत विचार करें और उसे आचरणमें उतारनेकी कोशिश भी करते रहें, तो मनुष्य-जातिके जीवनकी नियामक शक्तिके रूपमें प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखायी देता है, उससे कहीं अधिक दिखायी पड़ेगा। बेशक, पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिडकी बिन्दुकी व्याख्याकी तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी है। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाय तो दुनियामें समानताकी स्थापनाकी दिशामें हम दूसरे किसी उपायसे जितनी दूरतक जा सकते हैं, उसके बजाय इस उपायसे ज्यादा दूरतक जा सकेंगे। ...मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्यने पूँजीवादको हिंसा-

के द्वारा दबानेकी कोशिश की तो वह खुद ही हिंसाके जालमें फँस जायगा और फिर कभी भी अहिंसाका विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसाका एक केन्द्रित और संघटित रूप ही है। व्यक्तिमें आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक जड़ यंत्रमात्र है, इसलिए उसे हिंसासे कभी नहीं छुड़ाया जा सकता। क्योंकि हिंसासे ही तो उसका जन्म होता है। इसीलिए मैं ट्रस्टीशिपके सिद्धान्तको तरजीह देता हूँ। यह डर हमेशा बना रहता है कि कहीं राज्य उन लोगोंके खिलाफ, जो उससे मतभेद रखते हैं, बहुत ज्यादा हिंसाका उपयोग न करे। लोग यदि स्वेच्छासे ट्रस्टियोंकी तरह व्यवहार करने लगें तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी। लेकिन यदि वे ऐसा न करें तो मेरा खयाल है कि हमें राज्यके द्वारा भरसक कम हिंसाका आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी।...व्यक्तिगत तौरपर तो मैं यह चाहूँगा कि राज्यके हाथोंमें शक्तिका ज्यादा केन्द्रीकरण न हो, उसके बजाय ट्रस्टीशिपकी भावनाका विस्तार हो। क्योंकि मेरी रायमें राज्यकी हिंसाकी तुलनामें वैयक्तिक मालिकीकी हिंसा कम हानिकर है। लेकिन यदि राज्यकी मालिकी अनिवार्य ही हो तो मैं भरसक कम-से-कम राज्यकी मालिकीकी सिफारिश करूँगा।[७]

आजकल यह कहना एक फैशन हो गया है कि समाजको अहिंसाके आधारपर न तो संघटित किया जा सकता है और न चलाया जा सकता है। मैं इस कथनका विरोध करता हूँ। परिवारमें जब पिता अपने पुत्रको अपराध करनेपर थप्पड़ मार देता है, तो पुत्र उसका बदला लेनेकी बात नहीं सोचता। वह अपने पिताकी आज्ञा इसलिए स्वीकार कर लेता है कि इस थप्पड़के पीछे वह अपने पिताके प्यारको आहत हुआ देखता है, इसलिए नहीं कि थप्पड़ उसे वैसा अपराध दुबारा करनेसे रोकता है। मेरी रायमें समाजकी व्यवस्था जिस तरह होनी चाहिए, यह उसका एक छोटा रूप है। जो बात परिवारके लिए सही है, वही समाजके लिए भी सही है, क्योंकि समाज एक बड़ा परिवार ही है।[८]

मेरी धारणा है कि अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है। वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणोंकी तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिए। यह तो मानना ही होगा कि समाजके पारस्परिक व्यवहारोंका नियमन बहुत हदतक अहिंसाके द्वारा होता है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि इस सिद्धान्तका बडे पैमानेपर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमानेपर विस्तार किया जाय।[९]

मेरा ट्रस्टीशिपका सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है, जो काम निकालनेके लिए आज घड़ लिया गया हो। अपनी मंशा छिपानेके लिए खड़ा किया गया आवरण तो वह हरगिज नहीं है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धान्त जब नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा। उसके पीछे तत्त्वज्ञान और धर्मके समर्थनका बल है। धनके मालिकोंने इस सिद्धान्तके अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बातसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह सिद्धान्त झूठा है, इससे धनके मालिकोंकी कमजोरी मात्र सिद्ध होती है।

अहिंसाके साथ किसी दूसरे सिद्धान्तका मेल ही नहीं बैठता। अहिंसक मार्गकी खूबी यह है कि अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता, तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है। क्योंकि अहिंसक असहयोगके कारण या तो वह अपनी गलती देखने और सुधारनेके लिए मजबूर हो जाता है या वह बिलकुल अकेला पड़ जाता है।[१०]

मैं इस रायके साथ निःसंकोच अपनी सम्मति जाहिर करता हूँ कि आमतौरपर धनवान्—केवल धनवान् ही क्यों, बल्कि ज्यादातर लोग—इस बातका विशेष विचार नहीं करते कि वे पैसा किस तरह कमाते हैं। अहिंसक उपायका प्रयोग करते हुए, यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि उसका इलाज कुशलतापूर्वक और सहानुभूतिके साथ किया जाय तो उसे सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्योंमें रहनेवाले दैवी अंशको प्रभावित करना चाहिए और अपेक्षा करनी चाहिए कि उसका अनुकूल परिणाम निकलेगा। यदि समाजका हरएक सदस्य अपनी शक्तियोंका उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ साधनेके लिए नहीं, बल्कि सबके कल्याणके लिए करे, तो क्या इससे समाजकी सुख-समृद्धिमें वृद्धि नहीं होगी ? हम ऐसी जड़ समानताका निर्माण नहीं करना चाहते, जिसमें कोई आदमी योग्यताओं-का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अन्तमें नष्ट हुए विना नहीं रह सकता। इसलिए मेरी यह सलाह बिलकुल ठीक है कि धनवान् लोग चाहे करोड़ों रुपये कमायें (बेशक, ईमानदारीसे) लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा सबके कल्याणमें समर्पित कर देनेका होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' (इस) मंत्र-में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है। मौजूदा जीवन-पद्धतिकी जगह, जिसमें हरएक आदमी पड़ोसीकी परवाह किये बिना केवल अपने ही लिए जीता है, सर्व-कल्याण-कारी नयी जीवन-पद्धतिका विकास करना हो, तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।[११]

९. समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

पूंजीपतियोंद्वारा पूंजीके दुरुपयोगकी बात लोगोंके ध्यानमें आयी, तब समाज-वादका जन्म हुआ, यह ख्याल गलत है। जैसा कि मैंने पहले प्रतिपादित किया है समाजवाद, और उसी तरह साम्यवाद भी, ईशोपनिषद्के पहले श्लोकमें *स्पष्टरूप-से मिल जाता है। हाँ, यह बात सही है कि जब कुछ सुधारकोंने हृदय-परिवर्तनकी क्रिया द्वारा आदर्श सिद्ध करनेकी प्रणालीमें विश्वास खो दिया, तब जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, उसकी पद्धति ढूंढ़ी गयी। मैं उसी समस्याको हल करनेमें लगा हुआ हूँ, जो वैज्ञानिक समाजवादियोंके सामने है। अलबत्ता, कामका मेरा ढंग शुद्ध अहिंसाके अनुसार प्रयत्न करनेका है।[१]

---

* 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजोंसे प्राप्त हुआ है, जो हमें यह सिखा गये हैं कि "सब भूमि गोपालकी है, इसमें कहीं मेरी और तेरीकी सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएं तो आदमियोंने बनायी हैं और इसलिए वे इन्हें तोड़ भी सकते हैं।" गोपाल यानी भगवान्। आधुनिक भाषामें गोपाल यानी राज्य, यानी जनता। आज जमीन जनताकी नहीं है, यह बात सही है। पर इसमें दोष उस सिखावनका नहीं है। दोष तो हमारा है जिन्होंने उस शिक्षाके अनुसार आचरण नहीं किया। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आदर्शको जिस हदतक रूस या और कोई देश पहुंच सकता है उसी हदतक हम भी पहुँच सकते हैं, और वह भी हिंसाका आश्रय लिये बिना। पूंजीवालोंसे उनकी पूंजी हिंसापूर्वक छीनी जाय, इसके बजाय यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिये जायँ तो वही काम हो सकता है। चरखा हिंसक अपहरणकी जगह ले सकनेवाला अत्यंत प्रभावकारी साधन है। (वह इस बातका प्रतीक है कि) जमीन और दूसरी सारी संपत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करे। दुःख इस बातका है कि किसान और मजदूर या तो इस सरल सत्यको जानते नहीं हैं या यों कहो कि उन्हें इसे जानने नहीं दिया गया है।[२]

मैं सदासे यह मानता आया हूँ कि नीचे-से-नीचे और कमजोर-से-कमजोरके प्रति हम जोर-जबरदस्तीसे सामाजिक न्यायका पालन नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता आया हूँ कि पतितसे पतित लोगोंको भी मुनासिब तालीम दी जाय, तो अहिंसक साधनोंद्वारा सब प्रकारके अत्याचारोंका प्रतिकार किया जा सकता है। अहिंसक असहयोग ही उसका मुख्य साधन है। कभी-कभी असहयोग भी उतना ही कर्तव्यरूप हो जाता है जितना कि सहयोग। अपनी विफलता या गुलामीमें खुद सहायक होनेके लिए कोई बंधा हुआ नहीं है। जो स्वतंत्रता दूसरोंके प्रयत्नोंद्वारा ——फिर वे कितने ही उदार क्यों न हों——मिलती है, वह उन प्रयत्नोंके न रहनेपर कायम नहीं रखी जा सकती। दूसरे शब्दोंमें, ऐसी स्वतंत्रता सच्ची स्वतंत्रता नहीं है। लेकिन जब पतितसे पतित भी अहिंसक असहयोगद्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करनेकी कला सीख लेते हैं, तो वे उसके प्रकाशका अनुभव किये बिना नहीं रह सकते।

मेरा यह पक्का विश्वास है कि जिस चीजको हिंसा कभी नहीं कर सकती, वही अहिंसात्मक असहयोगद्वारा सिद्ध की जा सकती है। और उससे अन्तमें जाकर अत्याचारियोंका हृदय-परिवर्तन भी हो सकता है। हमने हिन्दुस्तानमें अहिंसाको उसके अनुरूप मौका अभीतक दिया ही नहीं। फिर भी आश्चर्य है कि अपनी इस मिलावटी अहिंसाद्वारा भी हम इतनी शक्ति प्राप्त कर सके हैं।[३]

समाजवाद और साम्यवाद आदि पश्चिमके सिद्धान्त जिन विचारोंपर आधारित हैं, वे हमारे तत्संबंधी विचारोंसे बुनियादी तौरपर भिन्न हैं।...उनका यह विश्वास है कि मनुष्य-स्वभावमें मूलगामी स्वार्थ-भावना है। मैं इस विचार-

को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मनुष्य और पशुमें यह बुनियादी फर्क है कि मनुष्य अपनी अन्तर्हित आत्माकी पुकारका उत्तर दे सकता है, उन विकारोंके ऊपर उठ सकता है जो उसमें और पशुओंमें सामान्य रूपसे पाये जाते हैं और इसलिए वह स्वार्थ-भावना और हिंसाके भी ऊपर उठ सकता है। क्योंकि स्वार्थ-भावना और हिंसा पशु-स्वभावके अंग हैं, मनुष्यमें अन्तर्हित उसकी अमर आत्माके नहीं। यह हिन्दू-धर्मका एक बुनियादी विचार है और इस सत्यकी शोधके पीछे कितने ही तपस्वियोंकी अनेक वर्षोंकी तपस्या और साधना है। यही कारण है कि हमारे यहाँ ऐसे सन्त और महात्मा तो हुए हैं, जिन्होंने आत्माके गूढ़ रहस्योंकी शोधमें अपना शरीर घिसा है और अपने प्राण दिये हैं, परन्तु पश्चिमकी तरह हमारे यहाँ ऐसे लोग नहीं हुए, जिन्होंने पृथ्वीके सुदूरतम कोनों या ऊँची चोटियोंकी खोजमें अपने प्राणोंका बलिदान किया हो। इसलिए हमारे समाजवाद या साम्यवादकी रचना अहिंसाके आधारपर और मजदूरों तथा पूँजीपतियों या जमींदारों तथा किसानोंके मीठे सहयोगके आधारपर होनी चाहिए।'

साम्यवादके अर्थकी छानबीन की जाय तो अन्तमें हम इसी निश्चयपर पहुँचते हैं कि उसका मतलब है—वर्गहीन समाज। यह बेशक उत्तम आदर्श है और उसके लिए अवश्य कोशिश होनी चाहिए। लेकिन जब इस आदर्शको हासिल करनेके लिए वह हिंसाका प्रयोग करनेकी बात करने लगता है, तब मेरा रास्ता उससे अलग हो जाता है। हम सब जन्मसे समान ही हैं, लेकिन हम हमेशासे भगवान्‌की इस इच्छाकी अवज्ञा करते आये हैं। असमानताकी या ऊँच-नीचकी भावना एक बुराई है, किन्तु मैं इस बुराईको मनुष्यके मनसे, उसे तलवार दिखाकर, निकाल भगानेमें विश्वास नहीं करता। मनुष्यके मनकी शुद्धिके लिए यह कोई कारगर साधन नहीं है।

···जनतापर जबरदस्ती लादा जानेवाला साम्यवाद, भारतको रुचेगा नहीं, भारतकी प्रकृतिके साथ उसका मेल नहीं बैठ सकता। हाँ, यदि साम्यवाद बिना किसी हिंसाके आये तो हम उसका स्वागत करेंगे।' ··· उसका उद्देश्य निजी सम्पत्तिकी संस्थाको मिटाना है। यह तो अपरिग्रहके नैतिक आदर्शको अर्थके क्षेत्रमें प्रयुक्त करना हुआ, और यदि लोग इस आदर्शको स्वेच्छासे स्वीकार कर लें या उन्हें शान्तिपूर्वक समझाया जाय और उसके फलस्वरूप वे उसे स्वीकार कर लें, तो इससे अच्छा कुछ हो ही नहीं सकता। ··· मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंसाकी नींवपर किसी भी स्थायी रचनाका निर्माण नहीं हो सकता।'

साम्यवादियों और समाजवादियोंका कहना है कि आज तत्काल वे आर्थिक समानताको जन्म देनेके लिए कुछ नहीं कर सकते। वे उसके लिए प्रचारभर कर सकते हैं। इसके लिए लोगोंमें द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ानेमें उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राज्यसत्ता पानेपर वे लोगोंसे समानताके

सिद्धान्तपर अमल करवायेंगे। मेरी योजनाके अनुसार राज्य प्रजाकी इच्छाको पूरी करेगा, न कि लोगोंको हुक्म देगा या अपनी आज्ञा जबरन् उनपर लादेगा। मैं घृणासे नहीं, परन्तु प्रेमकी शक्तिसे लोगोंको अपनी बात समझाऊँगा और अहिंसाके द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। (लेकिन) मैं सारे समाजको अपने मतका बनानेतक रुकूँगा नहीं, बल्कि अपनेपर ही यह प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं कि अगर मैं ५० मोटरोंका तो क्या, १० बीघा जमीनका भी मालिक हूँ, तो मैं अपनी कल्पनाकी आर्थिक समानताको जन्म नहीं दे सकता। उसके लिए मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले ५० सालोंसे या उससे भी ज्यादा वक्तसे करता आया हूं।

इसीलिए मैं पक्का कम्युनिस्ट होनेका दावा करता हूँ। अगरचे मैं धनवानों-द्वारा दी गयी मोटरों या दूसरे सुभीतोंसे फायदा उठाता हूँ, मगर मैं उनके वशमें नहीं हूं। अगर आम जनताके हितोंका वैसा तकाजा हुआ, तो बात-की-बातमें उनको मैं अपनेसे दूर हटा सकता हूँ।

समाजवादतक पहुँचनेके लिए हम एक-दूसरेकी तरफ ताकते न बैठें। जबतक सारे लोग समाजवादी न बन जायँ तबतक हम कोई हलचल न करें, अपने जीवनमें कोई फेरफार न करके हम भाषण देते रहें, पार्टियाँ बनाते रहें और बाज पक्षीकी तरह जहाँ शिकार मिल जाय वहाँ उसपर टूट पड़ें——यह समाजवाद हरगिज नहीं है। समाजवाद जैसी शानदार चीज झडप मारनेसे हमसे दूर ही जानेवाली है।

समाजवादकी शुरुआत पहले समाजवादीसे होती है। अगर एक भी ऐसा समाजवादी हो तो उसपर सिफर (शून्य) बढ़ाये जा सकते हैं। हर सिफरसे उसकी कीमत दसगुनी बढ़ती जायगी। लेकिन अगर पहला (अंक) सिफर ही हो, दूसरे शब्दोंमें अगर कोई आरंभ ही न करे, तो उसके आगे कितने ही सिफर क्यों न बढ़ाये जायँ उनकी कीमत सिफर ही रहेगी। सिफरोंको लिखनेमें मेहनत और कागजकी बरबादी ही होगी।

समाजवाद बड़ी शुद्ध चीज है। इसलिए इसे पानेके साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। गन्दे साधनोंसे मिलनेवाली चीज भी गन्दी ही होगी। इसलिए राजाको मारकर राजा और प्रजा एकसे नहीं बन सकेंगे। मालिकका सिर काटकर मजदूर मालिक नहीं हो सकेंगे। यही बात सबपर लागू की जा सकती है।

कोई असत्यसे सत्यको नहीं पा सकता। सत्यको पानेके लिए हमेशा सत्यका आचरण करना ही होगा।···सत्यमें अहिंसा छिपी हुई है और अहिंसामें सत्य। इसीलिए मैंने कहा है कि सत्य और अहिंसा एक ही सिक्केके दो रूप हैं। दोनोंकी कीमत एक ही है। केवल पढ़नेमें ही फर्क है, एक तरफ अहिंसा है, दूसरी तरफ सत्य। सम्पूर्ण पवित्रताके बिना अहिंसा और सत्य निभ ही नहीं सकते। शरीर या मनकी अपवित्रताको छिपानेसे असत्य और हिंसा ही पैदा होगी।

इसलिए केवल सत्यवादी, अहिंसक और पवित्र समाजवादी ही दुनियामें या हिन्दुस्तानमें समाजवाद फैला सकता है। जहाँतक मैं जानता हूँ, दुनियामें ऐसा कोई भी देश नहीं है जो पूरी तरह समाजवादी हो। मेरे बताये हुए साधनोंके बिना ऐसा समाज कायम करना असंभव है।[८]

वर्गयुद्ध भारतके मूल स्वभावके खिलाफ है। भारतमें समान न्याय और सबके बुनियादी हकोंके विशाल आधारपर स्थापित एक उदार किस्मका साम्यवाद निर्माण करनेकी क्षमता है। मेरे सपनेके रामराज्यमें राजा और रंक सबके अधिकार सुरक्षित होंगे।[९]

(लेकिन) मैंने यह कभी नहीं कहा कि शोषकों और शोषितोंमें (हर हालतमें) सहयोग होना चाहिए। जबतक शोषण और शोषण करनेकी इच्छा कायम है तबतक सहयोग नही हो सकता। अलबत्ता, मैं यह नहीं मानता कि सब पूँजीपति और जमीदार अपनी स्थितिकी किसी आन्तरिक आवश्यकताके फलस्वरूप शोषक ही हैं और न मैं यह मानता हूँ कि उनके और जनताके हितोंमें कोई बुनियादी या अकाट्य विरोध है। हर प्रकारका शोषण शोषितके सहयोगपर आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छासे दिया जाता हो या लाचारीसे। हम इस सचाईको स्वीकार करनेसे कितना ही इनकार क्यों न करें, फिर भी सचाई तो यही है कि यदि लोग शोषककी आज्ञा न मानें तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरोंको अपनी छातीसे लगाये रहते हैं जो हमें बाँधती हैं। यह चीज बन्द होनी चाहिए। जरूरत इस बातकी नहीं है कि पूँजीपति और जमींदार खतम हो जायँ, उनमें और आम लोगोंमें आज जो संबंध है, उसे बदलकर ज्यादा स्वस्थ और शुद्ध बनानेकी जरूरत है।

वर्गयुद्धका विचार मुझे नहीं भाता। भारतके वर्गयुद्ध न सिर्फ अनिवार्य नहीं हैं बल्कि हम अहिंसाके सन्देशको समझ गये हैं तो उसे टाला जा सकता है। जो लोग वर्गयुद्धको अनिवार्य बताते हैं उन्होंने या तो अहिंसाके फलितार्थोंको समझा नहीं है या ऊपरी तौरपर ही समझा है।

हमें पश्चिमसे आये हुए मोहक नारोंके असरमें जानेसे बचना चाहिए। क्या हमारे पास हमारी विशिष्ट परम्परा नहीं है? क्या हम श्रम और पूँजीके सवालका कोई अपना हल नहीं निकाल सकते? वर्णाश्रमकी व्यवस्था बड़े और छोटेका भेद दूर करने या पूँजी और श्रममें मेल साधनेका एक उत्तम साधन नहीं तो और क्या है? इस विषयसे संबंधित जो कुछ भी पश्चिमसे आया है, वह हिंसाके रंगमें रँगा है। मैं उसका विरोध करता हूँ, क्योंकि मैंने उस नाशको देखा है जो इस मार्गके आखिरी छोरपर हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। पश्चिमके भी ज्यादा विचारवान् लोग अब यह समझने लगे हैं कि उनकी व्यवस्था उन्हें एक गहरे गर्तकी ओर ले जा रही है और वे उससे भयभीत हैं। पश्चिममें मेरा जो भी प्रभाव है, उसका

कारण हिंसा और शोषणके इस दुश्चक्रसे उद्धारका रास्ता ढूंढ़ निकालनेका मेरा अथक प्रयत्न ही है। मैं पश्चिमकी समाज-व्यवस्थाका सहानुभूतिशील विद्यार्थी रहा हूँ और इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि पश्चिमकी इस बेचैनी और संघर्षके पीछे सत्यकी व्याकुल खोजकी भावना ही है। मैं इस भावनाकी कीमत करता हूँ। वैज्ञानिक जाँचकी उसी भावनासे हम पूर्वकी अपनी संस्थाओंका अध्ययन करें और मेरा विश्वास है कि दुनियाने अभीतक जिसका सपना देखा है, उससे कहीं ज्यादा सच्चे समाजवाद और सच्चे साम्यवादका हम विकास कर सकेंगे। यह मान लेना गलत है कि लोगोंकी गरीबीके सवालपर पश्चिमी समाजवाद या साम्यवाद ही अन्तिम शब्द है।[१०]

मैं जमींदारों और दूसरे पूंजीपतियोंका अहिंसाके द्वारा हृदय-परिवर्तन करना चाहता हूँ और इसलिए वर्गयुद्धकी अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। कम-से-कम संघर्षका रास्ता लेना मेरे लिए अहिंसाके प्रयोगका एक जरूरी हिस्सा है। जमीनपर मेहनत करनेवाले किसान और मजदूर ज्यों ही अपनी ताकत पहचान लेंगे, त्यों ही जमींदारोंकी बुराईका बुरापन दूर हो जायगा। अगर वे लोग यह कह दें कि उन्हें सभ्य जीवनकी आवश्यकताओंके अनुसार अपने बच्चोंके भोजन, वस्त्र और शिक्षण आदिके लिए जबतक काफी मजदूरी नहीं दी जायगी, तबतक वे जमीनको जोतेंगे-बोयेंगे ही नहीं, तो जमींदार बेचारा कर ही क्या सकता है? सच तो यह है कि मेहनत करनेवाला जो कुछ पैदा करता है, उसका मालिक वही हैं। अगर मेहनत करनेवाले बुद्धिपूर्वक एक हो जायँ, तो वे एक ऐसी ताकत बन जायेंगे जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। और इसीलिए मैं वर्गयुद्धकी कोई जरूरत नहीं देखता। यदि मैं उसे अनिवार्य मानता होता तो उसका प्रचार करनेमें और लोगोंको उसकी तालीम देनेमें मुझे कोई संकोच न होता।[११]

सवाल एक वर्गको दूसरे वर्गके खिलाफ भड़काने और भिड़ानेका नहीं है, बल्कि मजदूर-वर्गको अपनी स्थितिके महत्त्वका ज्ञान करानेका है। आखिर तो अमीरोंकी संख्या दुनियामें इनी-गिनी ही है। ज्यों ही मजदूर-वर्गको अपनी ताकतका भान होगा और अपनी ताकत जानते हुए भी वह ईमानदारीका व्यवहार करेगा, त्यों ही वे लोग भी ईमानदारीका व्यवहार करने लगेंगे। मजदूरोंको अमीरोंके खिलाफ भड़कानेका अर्थ वर्गद्वेषको और उससे निकलनेवाले तमाम बुरे नतीजोंको जारी रखना होगा। संघर्ष एक दुष्टचक्र है और उसे किसी भी कीमत-पर टालना ही चाहिए। वह दुर्बलताकी स्वीकृतिका, हीनता-ग्रंथिका चिह्न है। श्रम ज्यों ही अपनी स्थितिका महत्त्व और गौरव पहचान लेगा, त्यों ही धनको अपना उचित दरजा मिल जायगा, अर्थात् अमीर उसे अपने पास मजदूरोंकी धरोहरके ही रूपमें रखेंगे। कारण, श्रम धनसे श्रेष्ठ है।[१२]

यदि पूंजीपति-वर्ग कालका संकेत समझकर सम्पत्तिके बारेमें अपने इस विचार-

को बदल डालें कि उसपर उनका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, तो जो सात लाख घूरे आज गाँव कहलाते हैं उन्हें आनन-फाननमें शान्ति, स्वास्थ्य और सुखके धाम बनाया जा सकता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि पूँजीपति (अपने-आपको गरीबोंका संरक्षक मानें) तो वे सचमुच कुछ खोयेंगे नहीं और सब कुछ पायेंगे। केवल दो मार्ग हैं जिनमेंसे हमें अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह कि पूँजीपति अपना अतिरिक्त संग्रह स्वेच्छासे छोड़ दें और उसके परिणामस्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाय। दूसरा यह कि अगर पूँजीपति समय रहते न चेतें तो करोड़ों जाग्रत किन्तु अज्ञान और भूखे लोग देशमें ऐसी गड़बड़ मचा दें, जिसे एक बलशाली हुकूमतकी फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने यह आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्तिसे बचनेमें सफल रहेगा।[13] ◉

१०. भारतके लिए मेरी योजना

मनुष्य-जाति ईश्वर को...जिन अनंत नामोंसे पहचानती है, उनमेंसे एक नाम 'दरिद्र-नारायण' है, उसका अर्थ है गरीबोंका या गरीबोंके हृदयमें प्रकट होनेवाला ईश्वर।[1]

भूखों मरता आदमी अन्य सब बातोंसे पहले अपनी भूख बुझानेका ही विचार करता है। वह रोटीका एक टुकड़ा पानेके लिए अपनी स्वतंत्रता और अपना सब-कुछ बेच डालेगा। भारतमें लाखों आदमियोंकी आज ऐसी ही स्थिति है। उनकी दृष्टिमें स्वतंत्रता, ईश्वर और ऐसे दूसरे शब्द निरर्थक हैं। वे उनके कानोंको कड़वे लगते हैं, अगर हम इन लोगोंमें (स्वराज्यके लिए) भावना पैदा करना चाहते हैं, तो हमें उन्हें काम देना होगा—(ऐसा काम) जिसे वे अपने उजाड़ घरोंमें आसानीसे कर सकें और जो उन्हें कम-से-कम पेट भरनेके साधन मुहैया कर सकें।[2]

मेरा पक्का विश्वास है कि हाथ-कताई और हाथ-बुनाईके पुनरुज्जीवनसे भारतके आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धारमें सबसे बड़ी मदद मिलेगी। करोड़ों आदमियोंको खेतीकी आयमें वृद्धि करनेके लिए कोई सादा उद्योग चाहिए। बरसों पहले वह गृह-उद्योग कताईका था, और करोड़ोंको भूखों मरनेसे बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरोंमें फिरसे कताई जारी कर सकें और हर गाँवको अपना ही बुनकर फिरसे मिल जाय।[3]

केन्द्र-बिन्दु चरखा क्यों?

मैं...चरखेके लिए इस सम्मानका दावा करता हूँ कि वह हमारी गरीबीकी समस्याको लगभग बिना कुछ खर्च किये और बिना किसी दिखावेके अत्यन्त और स्वाभाविक ढंगसे हल कर सकता है। इसलिए चरखा न केवल निरुपयोगी

नहीं है...बल्कि वह एक ऐसी आवश्यक चीज है जो हरएक घरमें होनी ही चाहिए। वह राष्ट्रकी समृद्धिका और इसलिए उसकी आजादीका चिह्न है।

चरखा व्यापारिक युद्धकी नहीं, व्यापारिक शान्तिकी निशानी है। उसका संदेश संसारके राष्ट्रोंके लिए दुर्भावका नहीं, परन्तु सद्भावका और स्वावलम्बन-का है। उसे संसारकी शांतिके लिए खतरा बननेवाली या उसके साधनोंका शोषण करनेवाली किसी जलसेनाके संरक्षणकी जरूरत नहीं होगी, परन्तु उसे जरूरत होगी ऐसे लाखों लोगोंके धार्मिक निश्चयकी, जो अपने-अपने घरोंमें उसी तरह सूत कात लें जैसे आज वे अपने-अपने घरोंमें भोजन बना लेते हैं। मैंने करनेके काम न करके और न करनेके काम करके ऐसी अनेक भूलें की हैं, जिनके लिए मैं भावी सन्तानोंके शापका भाजन बन सकता हूँ। मगर मुझे विश्वास है कि चरखेका पुनरुद्धार सुझाकर तो मैं उनके आशीर्वादका ही अधिकारी बना हूँ। मैंने उसपर सारी बाजी लगा दी है, क्योंकि चरखेके हर तारमें शान्ति, सद्भाव और प्रेमकी भावना भरी है। और चूँकि चरखेको छोड़ देनेसे हिन्दुस्तान गुलाम बना है, इसलिए चरखेके सब फलितार्थोंके साथ उसके स्वेच्छापूर्ण पुन-रुद्धारका अर्थ होगा हिन्दुस्तानकी (सच्ची) स्वतंत्रता।[४]

सारे देशमें भारी-भारी यांत्रिक उद्योग खड़े कर देनेकी इस जमानेकी धुनमें मेरे इस विचार...के विषयमें कुछ लोगोंने शंका उठायी है। इसके विरोधमें यह कहा गया है कि यांत्रिक उद्योगोंकी प्रगतिके कारण जनसाधारणकी दरिद्रता जो बढ़ती जाती है वह अनिवार्य है, और इसलिए उसको सहन करना ही चाहिए। इस अनिष्टको सहन करना तो दूर, मैं तो यह भी नहीं मानता कि वह अनिवार्य है। अखिल भारत चरखा-संघने सफलतापूर्वक यह बता दिया है कि लोगोंके फुरसतके समयका उपयोग अगर कातने और उसके पूर्वकी क्रियाओंमें किया जाय, तो इतने मात्रसे गाँवोंमें हिन्दुस्तानकी जरूरतके लायक कपड़ा पैदा हो सकता है।[५]

चन्द लोगोंके हाथमें धन और सत्ताका केन्द्रीकरण करनेके लिए यंत्रोंके संघटनको मैं बिलकुल गलत समझता हूँ। आजकल यंत्रोंकी अधिकांश योजनाओंका यही उद्देश्य होता है। चरखेका आन्दोलन यंत्रोंद्वारा होनेवाला शोषण और धन तथा सत्ताका यह केन्द्रीकरण रोकनेके लिए किया जा रहा संघटित प्रयत्न है।[६]

चरखा मुझे जनसाधारणकी आशाओंका प्रतीक मालूम होता है। चरखेको खोकर उन्होंने अपनी आजादी, जैसी कुछ भी वह थी, खो दी। चरखा देहातकी खेतीकी पूर्ति करता था और उसे गौरव प्रदान करता था। वह विधवाओंका मित्र और सहारा था। वह देहातियोंको आलस्यसे बचाता था, क्योंकि चरखेमें पहले और पीछेके सब उद्योग—लोढ़ाई, पिंजाई, ताना करना, माँड़ लगाना, रँगाई और

बुनाई—आ जाते थे। और इनसे गाँवके बढ़ई और लुहार काममें लगे रहते थे। चरखेसे सात लाख गाँव आत्मनिर्भर रहते थे। चरखेके चले जानेपर तेलघानी आदि दूसरे ग्रामोद्योग भी खतम हो गये। इन धंधोंकी जगह और किसी धंधेने नहीं ली। इसलिए गाँवोंके विविध धंधे, उनकी उत्पादक प्रतिभा और उनसे होनेवाली थोड़ी आमदनी, सबका सफाया हो गया।

इसलिए अगर ग्रामीणोंको फिरसे अपनी स्थितिमें वापस आना हो, तो सबसे स्वाभाविक बात…यह है कि चरखे और उसके साथ लगी हुई सब बातोंका पुनरुद्धार हो। यह पुनरुद्धार तबतक नहीं हो सकता, जबतक बुद्धि और देशभक्तिवाले निःस्वार्थ भारतीयोंकी एक सेना न हो और वह चरखेका संदेश देहातियोंमें फैलाने और उनकी निस्तेज आँखोंमें आशा और प्रकाशकी किरण जगानेके लिए दत्तचित्त होकर काम न करने लगे। यह सही ढंगके सहयोग और प्रौढ़ शिक्षाका जबरदस्त प्रयत्न है। यह चरखेकी शांत, परन्तु प्राणदायक गतिकी तरह ही एक शांत और निश्चित क्रान्तिको लानेवाला है।[७]

मेरे विचारमें खादी हिन्दुस्तानकी समस्त जनताकी एकताकी, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानताकी प्रतीक है। इसके सिवा, खादी-वृत्तिका अर्थ है, जीवनके लिए जरूरी चीजोंकी उत्पत्ति और उनके बँटवारेका विकेन्द्रीकरण, इसलिए अबतक जो सिद्धान्त बना है, वह यह है कि हरएक गाँवको अपनी जरूरतकी सब चीजें खुद पैदा कर लेनी चाहिए, और शहरोंकी जरूरतें पूरी करनेके लिए कुछ अधिक उत्पत्ति करनी चाहिए।

…जबसे गाँवोंमें चलनेवाले अनेक उद्योगोंमेंसे इस मुख्य उद्योगका और इसके आसपास जुड़ी हुई कई दस्तकारियोंका बिना सोचे-समझे, मनमाने तरीकेसे और बेरहमीके साथ नाश किया गया है, तबसे हमारे गाँवोंकी बुद्धि और तेज नष्ट हो गया है। वे सब निस्तेज और निष्प्राण बन गये हैं, और उनकी हालत उनके अपने भूखों भरनेवाले मरियल ढोरोंकी-सी हो गयी है।[८]

मैं जितनी बार चरखेपर सूत निकालता हूँ उतनी ही बार भारतके गरीबोंका विचार करता हूँ। भूखकी पीड़ासे व्यथित और पेट भरनेके सिवा और कोई इच्छा न रखनेवाले मनुष्यके लिए उसका पेट ही ईश्वर है। उसे जो रोटी देता है, वही उसका मालिक है। उसके द्वारा वह ईश्वरके भी दर्शन कर सकता है। ऐसे लोगोंको, जिनके हाथ-पैर सही-सलामत हैं, दान देना अपना और उनका दोनोंका पतन करना है। उन्हें तो किसी-न-किसी तरहके धंधेकी जरूरत है और वह धंधा, जो करोड़ोंको काम देगा, केवल हाथ-कताईका ही हो सकता है।…इसलिए मैंने कताईको प्रायश्चित्त या यज्ञ बताया है। और चूँकि मैं मानता हूँ कि जहाँ गरीबोंके लिए शुद्ध और सक्रिय प्रेम है, वहाँ ईश्वर भी है, इसलिए चरखेपर मैं जो सूत निकालता हूँ उसके एक-एक धागेमें मुझे ईश्वर दिखायी देता है।[९]

मैं इससे ज्यादा उदात्त और ज्यादा राष्ट्रीय किसी दूसरी चीजकी कल्पना नहीं कर सकता कि प्रतिदिन एक घंटा हम सब कोई ऐसा परिश्रम करें जो गरीबोंको करना ही पड़ता है और इस तरह उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव-जातिके साथ अपनी एकता साधें। मैं भगवान्‌की इससे अच्छी पूजाकी कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नामपर मैं गरीबोंके लिए गरीबोंकी ही तरह परिश्रम करूँ।… जब मैं सोचता हूँ कि यज्ञार्थ किये जानेवाले (इस) शरीर-श्रमका सबसे अच्छा और सबको स्वीकार्य रूप क्या होगा, तो मुझे कताईके सिवा और कुछ नहीं सूझता।[१०]

गाँवोंका पुनर्निर्माण ग्रामोद्योगोंके बिना संभव नहीं

खादीके मुकाबले देहातमें चलनेवाले और देहातके लिए जरूरी दूसरे धन्धोंकी बात अलग है। उन सब धन्धोंमें अपनी राजी-खुशीसे मजदूरी करनेकी बात बहुत उपयोगी होने जैसी नहीं है। फिर, उनमेंसे हरएक धन्धा या उद्योग ऐसा है, जिसमें एक खास तादादमें ही लोगोंको मजदूरी मिल सकती है। इसलिए ये उद्योग खादीके मुख्य काममें सहायक हो सकते हैं; खादीके अभावमें उनकी कोई हस्ती नहीं है, और उनके बिना खादीका गौरव या शोभा नहीं है। हाथसे पीसना, हाथसे कूटना और पछोरना, साबुन बनाना, कागज बनाना, चमड़ा बनाना, तेल पेरना और इस तरहके सामाजिक जीवनके लिए जरूरी और महत्त्वके दूसरे धन्धोंके बिना गाँवोंकी आर्थिक रचना संपूर्ण नहीं हो सकती, यानी गाँव स्वयंपूर्ण घटक नहीं बन सकते। हरएक आदमीको, हर हिन्दुस्तानीको, इसे अपना धर्म समझना चाहिए कि जब-जब और जहाँ-जहाँ मिले, वहाँ वह हमेशा गाँवोंकी बनी चीजें ही बरते। अगर ऐसी चीजोंकी माँग पैदा हो जाय, तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हमारी ज्यादातर जरूरतें गाँवोंसे पूरी हो सकती हैं। जब हम गाँवोंके लिए सहानुभूतिसे सोचने लगेंगे और गाँवोंकी बनी चीजें हमें पसन्द आने लगेंगी, तो पश्चिमकी नकलके रूपमें यंत्रोंकी बनी चीजें हमें नहीं जँचेंगी, और हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचिका विकास करेंगे, जो गरीबी, भुखमरी और आलस्य या बेकारीसे मुक्त नये हिन्दुस्तानके आदर्शके साथ मेल खाती होगी।[११]

हममेंसे हरएक आदमी खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और अपने नित्यके उपयोगकी चीजोंको जाँच-परख सकता है, और विदेशी अथवा शहरकी बनी चीजोंकी जगह ग्रामवासियोंकी बनायी हुई उन चीजोंको काममें ला सकता है, जिन्हें कि वे अपनी मड़ैयामें या खेत-खलिहानमें चार-छह पैसेके मामूली औजारोंसे सहज ही तैयार कर सकते हैं। इन औजारोंको वे लोग आसानीसे चला सकते हैं और बिगड़ जायें तो उन्हें सुधार भी सकते हैं। विदेशी या शहरकी बनी चीजोंकी जगह गाँवोंकी बनी चीजोंको आप काममें लाने लगें, तो ग्रामोद्योग-कार्यका यह बड़ा

अच्छा आरंभ होगा, और आपके लिए यह खुद ही एक बड़े महत्त्वकी चीज होगी। इसके बाद फिर क्या करना होगा, यह तो आप ही मालूम हो जायगा। मान लीजिये कि आजतक कोई आदमी बंबईके किसी कल-कारखानेके बने टुथब्रशसे दाँत साफ करता आ रहा है। अब उसकी जगह वह गाँवका बना टुथब्रश चाहता है। तो उसे बबूल या नीमकी दातौनसे दाँत साफ करनेकी सलाह दें। दातौनका यह ब्रश सस्ता भी काफी पड़ेगा और कारखानोंके बने हुए अस्वच्छ ब्रशोंसे स्वच्छ भी अधिक होगा। शहरोंके बने दंतमंजनोंको वह छुएगा ही नहीं। वह तो लकड़ीके कोयलेको खूब महीन पीसकर और उसमें थोड़ा-सा साफ नमक मिलाकर अपने घरमें ही बढ़िया मंजन तैयार कर लेगा। मिलके बने कपड़ेके बजाय वह गाँवकी बुनी खादी पहनेगा, मिलके चावलकी जगह हाथके दले बिना पालिश किये चावलका और सफेद शक्करके स्थानपर गाँवके बने गुड़का उपयोग करेगा। इन चीजोंको मैंने यहाँ बतौर नमूनेके ही दिया है।[१२]

सरकारका कर्तव्य

सरकारोंको चाहिए कि गाँववालोंको यह सूचना कर दे कि उनसे यह आशा रखी जायगी कि वे अपने गाँवकी जरूरतोंके लिए एक निश्चित तारीखके अन्दर खादी तैयार करें। इसके बाद उनको कोई कपड़ा नहीं दिया जायगा। सरकार अपनी तरफसे गाँववालोंको बिनौला या रूई जिसकी भी जरूरत हो दामके दाम देगी और उत्पादनके औजार भी ऐसे दामोंपर देगी जो आसानीसे वसूल होनेवाली किश्तों-में लगभग पाँच साल या इससे भी ज्यादामें अदा हो सकें। सरकार जहाँ कहीं जरूरी हो उन्हें सिखानेवाले भी दे और यह जिम्मा ले कि अगर गाँववालोंके पास उनकी तैयार की हुई खादीसे उनकी जरूरतें पूरी हो जायँ, तो फालतू खादी सर-कार खरीद लेगी। इस तरह बिना हलचलके और बहुत थोड़े ऊपरी खर्चके साथ कपड़ेकी कमी दूर हो जायगी।

गाँवोंकी जाँच-पड़ताल की जायगी और ऐसी चीजोंकी एक यादी तैयार की जायगी, जो किसी मददके बिना या बहुत थोड़ी मददसे स्थानीय स्तरपर तैयार हो सकती हैं और जिनकी जरूरत गाँवमें बरतनेके लिए या बाहर बेचनेके लिए हो। जैसे, घानीका तेल, घानीकी खली, घानीसे निकला हुआ जलानेका तेल, हाथका कुटा हुआ चावल, ताड़का गुड़, शहद, खिलौने, मिठाइयाँ, चटाइयाँ, हाथसे बना हुआ कागज, गाँवका साबुन वगैरह चीजें। अगर इस तरह काफी ध्यान दिया जाय तो उन गाँवोंमें, जिनमेंसे ज्यादातर उजड़ चुके हैं या उजड़ रहे हैं, जीवनकी चहल-पहल पैदा हो जाय और उनमें अपनी और हिन्दुस्तानके शहरों और कस्बोंकी बहुत ज्यादा जरूरतें पूरी करनेकी जो ज्यादा-से-ज्यादा शक्ति है, वह दिखायी पड़ने लगे।

गोरक्षा

फिर हिन्दुस्तानमें अनगिनत पशुधन है, जिसकी तरफ हमने ध्यान न देकर गुनाह किया है।[१३] ····गोरक्षा मुझे मनुष्यके सारे विकास-क्रममें सबसे अलौकिक वस्तु मालूम हुई है। गायका अर्थ मैं मनुष्यसे नीचेकी सारी गूँगी दुनिया करता हूँ। इसमें गायके बहाने इस तत्त्वके द्वारा मनुष्यको संपूर्ण चेतन-सृष्टिके साथ आत्मीयता-का अनुभव करानेका प्रयत्न है। मुझे तो यह भी स्पष्ट दीखता है कि गायको ही यह भेदभाव क्यों प्रदान किया गया होगा। हिन्दुस्तानमें गाय ही मनुष्यका सबसे अच्छा साथी, सबसे बड़ा आधार था। यही हिन्दुस्तानकी एक कामधेनु थी। वह सिर्फ दूध ही नहीं देती थी, बल्कि सारी खेतीका आधार-स्तंभ थी। गाय दयाधर्मकी मूर्तिमंत कविता है। इस गरीब और शरीफ जानवरमें हम केवल दया ही उमड़ती देखते हैं। यह लाखों-करोड़ों हिन्दुस्तानियोंको पालनेवाली माता है। इस गायकी रक्षा करना ईश्वरकी सारी मूक सृष्टिकी रक्षा करना है। जिस अज्ञात ऋषि या द्रष्टाने गोपूजा चलायी उसने गायसे (सिर्फ) शुरुआत की। इसके सिवा और कोई ध्येय हो ही नहीं सकता है। इस पशुसृष्टिकी फरियाद मूक होनेसे और भी प्रभावशाली है। गोरक्षा हिन्दू धर्मकी दुनियाको दी हुई एक कीमती भेंट है।[१४]

गोमाता जन्म देनेवाली माँसे कहीं बढ़कर है। माँ तो साल दो साल दूध पिलाकर हमसे फिर जीवनभर सेवाकी आशा रखती है। पर गोमाताको तो सिवा दाने और घासके कोई सेवाकी आवश्यकता ही नहीं। माँकी तो हमें उसकी बीमारीमें सेवा करनी पड़ती है। परन्तु गोमाता केवल जीवन-पर्यन्त ही हमारी अटूट सेवा नहीं करती, बल्कि उसके मरनेके बाद भी हम उसके मांस, चर्म, हड्डी, सींग आदिसे अनेक लाभ उठाते है। यह सब मैं जन्मदात्री माताका दरजा कम करनेको नही कहता, बल्कि यह दिखानेके लिए कहता हूँ कि गोमाता हमारे लिए कितनी पूज्य है।[१५]

हमारे ढोरोंकी दुर्दशाके लिए अपनी गरीबीका राग भी हम नहीं अलाप सकते। यह हमारी निर्दय लापरवाहीके सिवा और किसी भी बातकी सूचक नहीं है। हालाँकि हमारे पिंजरापोल हमारी दयावृत्तिपर खड़ी हुई संस्थाएँ हैं, तो भी वे उस वृत्तिका अत्यंत भद्दा अमल करनेवाली संस्थाएँ ही हैं। वे आदर्श गोशालाओं या डेरियों और समृद्ध राष्ट्रीय संस्थाओंके रूपमें चलनेके बजाय केवल लूले लँगड़े ढोर रखनेके धर्मादा खाते बन गये हैं। गोरक्षाके धर्मका दावा करते हुए भी हमने गाय और उसकी सन्तानको गुलाम बनाया है और हम खुद भी गुलाम बन गये हैं।[१६]

सवाल यह (किया जाता) है कि जब गाय अपने पालन-पोषणके खर्चसे भी कम दूध देने लगती है या दूसरी तरहसे नुकसान पहुँचानेवाला बोझ बन जाती है,

तब बिना मारे उसे कैसे बचाया जा सकता है ? इस सवालका जवाब थोड़ेमें इस तरह दिया जा सकता है कि जानवरोंके पालन-पोषणका साइन्स सीखकर गायकी रक्षा की जा सकती है। आज तो इस काममें पूरी अन्धाधुन्धी चलती है।... हिन्दू गाय और उसकी सन्तानकी तरफ अपना फर्ज पूरा करके उसे बचा सकते हैं। अगर वे ऐसा करें तो हमारे जानवर हिन्दुस्तान और दुनियाके गौरव बन सकते हैं। आज इससे बिलकुल उल्टा हो रहा है।

(फिर) हिन्दुस्तानके सारे पिंजरापोलोंका पूरा-पूरा सुधार किया जाना चाहिए। आज तो हर जगह पिंजरापोलका इन्तजाम ऐसे लोग करते हैं, जिनके पास न कोई योजना होती है और न वे अपने कामकी जानकारी ही रखते हैं।

ऊपर बतायी हुई बातोंके पीछे एक खास चीज है। यह है अहिंसा, जिसे दूसरे शब्दोंमें प्राणीमात्रपर दया कहा जाता है। अगर इस सबसे बड़े महत्त्वकी बात-को समझ लिया जाय, तो दूसरी सब बातें आसान बन जाती हैं।...जहाँ अहिंसा है वहाँ अपार धीरज, भीतरी शान्ति, भले-बुरेका ज्ञान, आत्म-त्याग और सच्ची जानकारी भी है। गोरक्षा कोई आसान काम नहीं है। उसके नामपर देशमें बहुत पैसा बरबाद किया जाता है। फिर भी अहिंसा (का भान) न होनेसे हिन्दू गायके रक्षकके बजाय उसके नाश करनेवाले बन गये हैं। गोरक्षाका काम हिन्दुस्तानसे विदेशी हुकूमतको हटानेके कामसे भी ज्यादा कठिन है।[१७]

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैंसके दूध-घीका कितना पक्षपात करते हैं! असलमें हम निकटका स्वार्थ देखते हैं, दूरके लाभका विचार नहीं करते। नहीं तो यह साफ है कि अन्तमें गाय ही ज्यादा उपयोगी है। गायके घी और मक्खनमें एक खास तरहका पीला रंग होता है, जिसमें भैंसके मक्खनसे कहीं अधिक कैरोटीन यानी विटामिन 'ए' रहता है। उसमें एक खास तरहका स्वाद भी है। मुझसे मिलने आनेवाले विदेशी यात्री सेवाग्राममें गायका शुद्ध दूध पीकर खुश हो जाते हैं। और यूरोपमें तो भैंसके घी और मक्खनके बारेमें कोई जानता ही नहीं। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहाँ भैंसका घी-दूध इतना पसन्द किया जाता है। इससे गायकी बरबादी हुई है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हम सिर्फ गायपर ही जोर न देंगे, तो गाय नहीं बच सकेगी।[१८]

मैं इस बातपर जोर देना चाहता हूँ कि...कानून बनाकर गोवध बन्द करनेसे गोरक्षा नहीं हो जाती। वह तो गोरक्षाके कामका छोटेसे छोटा भाग है। ... लोग ऐसा मानते दीखते हैं कि किसी भी बुराईके विरुद्ध कोई कानून बना कि तुरन्त वह किसी झंझटके बिना मिट जायगी। ऐसी भयंकर आत्म-वंचना और कोई नहीं हो सकती। किसी दुष्ट बुद्धिवाले अज्ञानी या छोटेसे समाजके खिलाफ कानून बनाया जाता है और उसका असर भी होता है। लेकिन जिस कानूनके विरुद्ध समझदार और संगठित लोकमत हो, या धर्मके बहाने छोटेसे छोटे मण्डल-

का भी विरोध हो, वह कानून सफल नहीं होता। गोरक्षाके प्रश्नका जैसे-जैसे मैं अधिक अध्ययन करता जाता हूँ, वैसे-वैसे मेरा यह मत दृढ़ होता जाता है कि गाँवों और उनकी जनताकी रक्षा तभी हो सकती है, जब कि मेरी ऊपर बतायी हुई दिशामें निरन्तर प्रयत्न किया जाय।"

प्रत्येक किसान अपने घरमें गाय-बैल रखकर उनका पालन भलीभाँति और शास्त्रीय पद्धतिसे नहीं कर सकता। गोवंशके ह्रासके अनेक कारणोंमें व्यक्तिगत गोपालन भी एक कारण रहा है। यह बोझ वैयक्तिक किसानकी शक्तिके बिलकुल बाहर है।...

हमारी आबादी बढ़ती जा रही है और उसके साथ किसानकी व्यक्तिगत जमीन कम होती जा रही है। नतीजा यह हुआ कि प्रत्येक किसानके पास जितनी चाहिए उतनी जमीन नहीं है।...ऐसा किसान अपने घरमें या खेतपर गाय-बैल नहीं रख सकता। रखता है तो अपने हाथों अपनी बरबादीको न्योता भी देता है। आज हिन्दुस्तानकी यही हालत है। धर्म, दया या नीतिकी परवाह न करनेवाला अर्थशास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहता है कि आज हिन्दुस्तानमें लाखों पशु मनुष्यको खा रहे हैं। क्योंकि उनसे कुछ लाभ न पहुँचनेपर भी उन्हें खिलाना तो पड़ता ही है। इसलिए उन्हें मार डालना चाहिए। लेकिन धर्म कहो, नीति कहो या दया कहो, ये हमें इन निकम्मे पशुओंको मारनेसे रोकते हैं।

इस हालतमें क्या किया जाय? यही कि जितना प्रयत्न पशुओंको जीवित रखने और उन्हें बोझ न बनने देनेका हो सकता है, उतना किया जाय। इस प्रयत्नमें सहयोगका बड़ा महत्त्व है। सहयोग अथवा सामुदायिक पद्धतिसे पशु-पालन करनेसे अनेक लाभ हैं।...मेरा तो विश्वास है कि हम अपनी जमीनको (भी जब) सामुदायिक पद्धतिसे जोतेंगे, तभी उससे पूरा फायदा उठा सकेंगे। गाँवकी खेती अलग-अलग सौ टुकड़ोंमें बँट जाय, इसके बनिस्वत क्या यह बेहतर नहीं होगा कि सौ कुटुम्ब सारे गाँवकी खेती सहयोगसे करें और उसकी आमदनी आपसमें बाँट लिया करें? और जो खेतीके लिए सच है, वह पशुओंके लिए भी सच है।

यह दूसरी बात है कि आज लोगोंको सहयोगकी पद्धतिपर लानेमें कठिनाई है। कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामोंमें होती है। गोसेवाके सभी अंग कठिन हैं। कठिनाइयाँ दूर करनेसे ही सेवाका मार्ग सुगम बन सकता है। यहाँ तो मुझे इतना ही बताना था कि...वैयक्तिक पद्धति गलत है, सामुदायिक सही है। व्यक्ति अपने स्वातंत्र्यकी रक्षा भी सहयोगको स्वीकार करके ही कर सकता है। अतएव सामुदायिक पद्धति अहिंसात्मक है, वैयक्तिक हिंसात्मक।"

सफाई और खाद

श्रम और बुद्धिके बीच जो अलगाव हो गया है, उसके कारण हम अपने गाँवोंके

प्रति इतने लापरवाह हो गये हैं कि वह एक गुनाह ही माना जा सकता है। नतीजा यह हुआ है कि देशमें जगह-जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गाँवोंके बदले हमें घूरे जैसे गंदे गाँव देखनेको मिलते हैं। बहुतसे या यों कहिये कि करीब-करीब सभी गाँवोंमें घुसते समय जो अनुभव होता है, उससे दिलको खुशी नहीं होती। गाँवके बाहर और आसपास इतनी गंदगी होती है और वहाँ इतनी बदबू आती है कि अक्सर गाँवमें जानेवालेको आँख मूँदकर और नाक दबाकर ही जाना पड़ता है।

…हमने राष्ट्रीय या सामाजिक सफाईको न तो जरूरी गुण माना, और न उसका विकास ही किया। यों रिवाजके कारण हम अपने ढंगसे नहाभर लेते हैं, मगर जिस नदी, तालाब या कुएँके किनारे हम श्राद्ध या वैसी ही दूसरी कोई धार्मिक क्रिया करते हैं और जिन जलाशयोंमें पवित्र होनेके विचारसे हम नहाते हैं, उनके पानीको बिगाड़ने या गंदा करनेमें हमें कोई हिचक नहीं होती। हमारी इस कमजोरीको मैं एक बड़ा दुर्गुण मानता हूँ। इस दुर्गुणका ही यह नतीजा है कि हमारे गाँवोंकी और हमारी पवित्र नदियोंके पवित्र तटोंकी लज्जाजनक दुर्दशा और गन्दगीसे पैदा होनेवाली बीमारियाँ हमें भोगनी पड़ती हैं।[२१]

गाँवके कार्यकर्ताको सबसे पहले गाँवकी सफाई और आरोग्यके सवाल को अपने हाथमें लेना चाहिए। यों तो ग्रामसेवकोंको किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देनेवाली अनेक समस्याएँ हैं, पर यह समस्या ऐसी है जिसकी सबसे अधिक लापरवाही की जा रही है। फलतः गाँवकी तन्दुरुस्ती बिगड़ती रहती है और रोग फैलते रहते हैं। अगर ग्रामसेवक स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाय, तो वह प्रतिदिन मैला उठाकर उसकी खाद बना सकता है और गाँवके रास्ते बुहार सकता है। वह लोगोंसे कहे कि उन्हें पाखाना-पेशाब कहाँ करना चाहिए, किस तरह सफाई रखनी चाहिए, उसके क्या लाभ हैं, और उसके न रखनेसे क्या-क्या नुकसान होते हैं। गाँवके लोग उसकी बात चाहें सुनें या न सुनें, वह अपना काम बराबर करता रहे।[२२]

अगर कार्यकर्ता लोग नौकर रखे हुए भंगियोंकी भाँति खुद रोज सफाईका काम करना शुरू कर दें और साथ ही गाँववालोंको यह भी बतलाते रहें कि उनसे सफाईके कार्यमें शरीक होनेकी आशा रखी जाती है, ताकि आगे चलकर अन्तमें सारा काम गाँववाले स्वयं करने लग जायँ, तो यह निश्चित है कि आगे या पीछे गाँववाले इस कार्यमें अवश्य सहयोग देने लगेंगे।

वहाँके बाजार तथा गलियोंको सब प्रकारका कूड़ा-करकट हटाकर स्वच्छ बना लेना चाहिए। फिर उस कूड़ेका वर्गीकरण कर देना चाहिए। उसमेंसे कुछकी तो खाद बनायी जा सकती है, कुछको सिर्फ जमीनमें गाड़ देनाभर बस होगा और कुछ हिस्सा ऐसा होगा कि जो सीधा सम्पत्तिके रूपमें परिणत किया

जा सकेगा। वहाँ मिली हुई प्रत्येक हड्डी एक बहुमूल्य कच्चा माल होगी, जिससे बहुत-सी उपयोगी चीजें बनायी जा सकेंगी, या जिसे पीसकर कीमती खाद बनायी जा सकेगी। कपड़ेके फटे-पुराने चिथड़ों तथा रद्दी कागजोंसे कागज बनाये जा सकते हैं और इधर-उधरसे इकट्ठा किया हुआ मल-मूत्र गाँवके खेतोंके लिए सुनहली खादका काम देगा। मल-मूत्रको उपयोगी बनानेके लिए यह करना चाहिए कि उसके साथ——चाहे वह सूखा हो या तरल——मिट्टी मिलाकर उसे ज्यादासे ज्यादा एक फुट गहरा गड्ढा खोदकर जमीनमें गाड़ दिया जाय। …जमीनकी ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवोंसे परिपूर्ण होती है और हवा एवं रोशनीकी सहायता-से——जो कि आसानीसे वहाँतक पहुँच जाती हैं——यह जीव मल-मूत्रको एक हफ्तेके अन्दर एक अच्छी, मुलायम और सुगन्धित मिट्टीमें बदल देते हैं। कोई भी ग्राम-वासी स्वयं इस बातकी सचाईका पता लगा सकता है। …कोई भी उद्योगी ग्राम-वासी कम-से-कम इतना काम तो खुद भी कर ही सकता है कि मल-मूत्रको एकत्र करके उसको अपने लिए सम्पत्तिमें परिवर्तित कर दे। आजकल तो यह सारी कीमती खाद, जो लाखों रुपयेकी कीमतकी है, प्रतिदिन व्यर्थ जाती है और बदलेमें हवाको गन्दी करती तथा बीमारियाँ फैलाती रहती है।[२३]

गोबर, कचरे और मनुष्यके मल वगैरामेंसे खूबसूरत और सुगन्धित खाद मिल सकती है। यह सुनहली चीज है। धूलमेंसे धन पैदा करनेकी बात है।… यह खाद बनाना भी एक ग्रामोद्योग है। यह तभी चल सकता है, जब करोड़ो उसमें हिस्सा लें, मदद दें।[२४] …भारतकी जनता इस प्रयत्नमें खुशीसे सहयोग करे तो यह देश न सिर्फ अनाजकी कमीको पूरा कर सकता है, बल्कि हमें जितना चाहिए, उससे कहीं ज्यादा अनाज पैदा कर सकता है। यह जीवित खाद (आर-गेनिक मैन्यूर) जमीनके उपजाऊपनको हमेशा बढ़ाती ही है, कभी कम नहीं करती। हर दिन जो कूड़ा-कचरा इकट्ठा होता है, उसे ठीक विधिके अनुसार गड्ढोंमें इकट्ठा किया जाय तो उसकी सुनहली खाद बन जाती है, और तब उसे खेतकी जमीनमें मिला दिया जाय तो उससे अनाजकी उपज कई गुनी बढ़ जाती है और फलतः हमें करोड़ों रुपयोंकी बचत होती है। इसके सिवा कूड़े-कचरेका इस तरह खाद बनानेके लिए उपयोग कर लिया जाय तो आसपासकी जगह साफ रहती है। और स्वच्छता एक सद्गुण होनेके साथ-साथ स्वास्थ्यकी पोषक भी है।[२५]

अगर मैलेका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय, तो हमें लाखों रुपयोंकी कीमतकी खाद मिले और साथ ही कितनी ही बीमारियोंसे मुक्ति मिल जाय। अपनी गंदी आदतोंसे हम अपनी पवित्र नदियोंके किनारे बिगाड़ते हैं और मक्खियोंकी पैदाइश-के लिए बढ़िया जमीन तैयार करते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारी दण्डनीय लापरवाहीके कारण जो मक्खियाँ खुले मैलेपर बैठती हैं, वे ही हमारे नहानेके बाद हमारे शरीरपर बैठती हैं और उसे गंदा बनाती हैं। इस भयंकर गंदगीसे

वचनेके लिए कोई वड़ा साधन नहीं चाहिए, मात्र मामूली फावड़ेका उपयोग करनेकी जरूरत है। जहाँ-तहाँ शौचके लिए बैठ जाना, नाक साफ करना या सड़कपर थूकना ईश्वर और मानव-जातिके खिलाफ अपराध है और दूसरोंके प्रति लिहाजकी दयनीय कमी प्रकट करता है। जो आदमी अपनी गंदगीको ढँकता नहीं है वह भारी सजाका पात्र है, फिर चाहे वह जंगलमें ही क्यों न रहता हो।[२६]

गाँवोंके तालावोंसे स्त्री और पुरुष सब स्नान करने, कपड़े धोने, पानी पीने तथा भोजन बनानेका काम लिया करते हैं। बहुतसे गाँवोंके तालाब पशुओंके काम भी आते हैं। बहुधा उनमें भैंसें बैठी हुई पायी जाती हैं। आश्चर्य तो यह है कि तालावोंका इतना पापपूर्ण दुरुपयोग होते रहनेपर भी महामारियोंसे गाँवोंका नाश अवतक क्यों नहीं हो पाया है? आरोग्य-विज्ञान इस विषयमें एकमत है कि पानीकी सफाईके संबंधमें गाँववालोंकी उपेक्षा-वृत्ति ही उनकी बहुत-सी बीमारियोंका कारण है।[२७]

गाँवकी बसावट

आदर्श भारतीय गाँव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए, जिससे वह सम्पूर्णतया निरोग हो सके। उसके झोपड़ों और मकानोंमें काफी प्रकाश और वायु आ-जा सके। ये झोपड़े ऐसी चीजोंके बने हों जो पाँच मीलकी सीमाके अन्दर उपलब्ध हो सकती हैं। हर मकानके आसपास या आगे-पीछे इतना बड़ा आँगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओंको रख सकें। गाँवकी गलियों और रास्तोंपर जहाँतक हो सके धूल न हो। अपनी जरूरतके अनुसार गाँवमें कुएँ हों, जिनसे गाँवके सब लोग पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना-घर या मंदिर हों, सार्वजनिक सभा वगैराके लिए एक अलग स्थान हो, गाँवकी अपनी गोचर-भूमि हो, सहकारी ढंगकी एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएँ हों, जिनमें उद्योगकी शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो और गाँवके अपने मामलोंका निपटारा करनेके लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी जरूरतोंके लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गाँवमें ही पैदा हों। एक आदर्श गाँवकी मेरी अपनी यह कल्पना है। मौजूदा परिस्थितिमें उसके मकान ज्यों-के-त्यों रहेंगे, सिर्फ यहाँ-वहाँ थोड़ा-सा सुधार कर देना काफी होगा। अगर···गाँवके लोगोंमें सहयोग और प्रेमभाव हो, तो वगैर सरकारी सहायताके खुद ग्रामीण ही अपने बलपर लगभग ये सारी बातें कर सकते हैं। हाँ, सिर्फ नये सिरेसे मकानोंको बनानेकी बात छोड़ दीजिये। और अगर सरकारी सहायता भी मिल जाय, तब तो ग्रामोंकी इस तरह पुनर्रचना हो सकती है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। पर अभी तो मैं यही सोच रहा हूँ कि

खुद ग्रामनिवासी अपने बलपर परस्पर सहयोगके साथ और सारे गाँवके भलेके लिए हिल-मिलकर मेहनत करें, तो वे क्या-क्या कर सकते हैं। मुझ तो यह निश्चय हो गया है कि अगर उन्हें उचित सलाह और मार्गदर्शन मिलता रहे, तो गाँवकी-- मैं व्यक्तियोंकी बात नहीं करता--आय बराबर दूनी हो सकती है। व्यापारी दृष्टिसे काममें आने लायक साधन-सामग्री हर गाँवमें भले ही न हो, पर स्थानीय उपयोग और लाभके लिए तो लगभग हर गाँवमें है।[२८]

चिकित्सा

मेरी रायमें जिस जगह शरीर-सफाई, घर-सफाई और ग्राम-सफाई हो तथा युक्ताहार और योग्य व्यायाम हो, वहाँ कम-से-कम बीमारी होती है। और, अगर चित्तशुद्धि भी हो, तो कहा जा सकता है कि बीमारी असंभव हो जाती है। रामनामके बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। अगर देहातवाले इतनी बात समझ जायँ, तो वैद्य, हकीम, या डॉक्टरकी जरूरत न रह जाय।[२९]

अगर हम सफाईके नियम जानें, उनका पालन करें और सही खुराक लें, तो हम खुद अपने डॉक्टर बन जायें। जो आदमी जीनेके लिए खाता है, जो पाँच महाभूतोंका यानी मिट्टी, पानी, आकाश, सूरज और हवाका दोस्त बनकर रहता है, जो उनको बनानेवाले ईश्वरका दास बनकर जीता है, वह कभी बीमार न पड़ेगा। पड़ा भी तो ईश्वरके भरोसे रहता हुआ शान्तिसे मर जायगा। वह अपने गाँवके मैदानों या खेतोंमें मिलनेवाली जड़ी-बूटी या औषधि लेकर ही सन्तोष मानेगा। डॉक्टर लोग कहते हैं कि १०० मेंसे ९९ रोग गन्दगीसे, न खाने जैसा खानेसे और खाने लायक चीजोंके न मिलने और न खानेसे होते हैं। अगर हम इन ९९ लोगोंको जीनेकी कला सिखा दें, तो बाकी एकको हम भूल जा सकते हैं। उसके लिए कोई परोपकारी डॉक्टर मिल जायगा। हम उसकी फिकर न करें। आज हमें न तो अच्छा पानी मिलता है, न अच्छी मिट्टी और न साफ हवा ही मिलती है। हम सूरजसे छिप-छिपकर रहते हैं। अगर हम इन सब बातोंको सोचें और सही खुराक सही तरीकेसे लें, तो समझिये कि हमने जमानोंका काम कर लिया। इसका ज्ञान पानेके लिए न तो हमें कोई डिग्री चाहिए, और न करोड़ों रुपये। जरूरत सिर्फ इस बातकी है कि इसमें ईश्वरपर श्रद्धा हो, सेवाकी लगन हो, पाँच महाभूतोंका कुछ परिचय हो, और हो सही भोजनका सही ज्ञान। इतना तो हम स्कूल और कॉलेजकी शिक्षाके बनिस्बत कुछ ही थोड़ी मेहनतसे और थोड़े समयमें हासिल कर सकते हैं।[३०]

जाने-अनजाने कुदरतके कानूनोंको तोड़नेसे ही बीमारी पैदा होती है। इसलिए उसका इलाज भी यही हो सकता है कि बीमार फिर कुदरतके कानूनोंपर अमल करना शुरू कर दे। जिस आदमीने कुदरतके कानूनको हदसे ज्यादा

तोड़ा है, उसे तो कुदरतकी सजा भोगनी ही पड़ेगी, या फिर उससे बचनेके लिए अपनी जरूरतके मुताबिक डॉक्टरों या सर्जनोंकी मदद लेनी पड़ेगी। वाजिब सजाको सोच-समझकर चुपचाप सह लेनेसे मनकी ताकत बढ़ती है, मगर उसे टालनेकी कोशिश करनेसे मन कमजोर बनता है।[११]

मैं यह जानना चाहूँगा कि ये डॉक्टर और वैज्ञानिक लोग देशके लिए क्या कर रहे हैं? वे हमेशा खास-खास बीमारियोंके इलाजके नये-नये तरीके सीखनेके लिए विदेशोंको जानेके लिए तैयार दिखायी देते हैं। मेरी सलाह है कि वे हिन्दुस्तानके ७ लाख गाँवोंकी तरफ ध्यान दें। ऐसा करनेपर उन्हें जल्दी ही मालूम हो जायगा कि डॉक्टरीकी डिग्रियाँ लिये हुए सारे मर्द और औरतोंकी, पश्चिमी नहीं बल्कि पूर्वी ढंगपर, ग्रामसेवाके काममें जरूरत है। तब वे इलाजके बहुतसे देशी तरीकोंको अपना लेंगे। जब हिन्दुस्तानके गाँवोंमें ही कई तरहकी जड़ी-बूटियों और दवाइयोंका अखूट भण्डार मौजूद है, तब उसे पश्चिमी देशोंसे दवाइयाँ मँगानेकी कोई जरूरत नहीं। लेकिन दवाइयोंसे भी ज्यादा इन डॉक्टरोंको (चाहिए कि वे) जीनेका सही तरीका गाँववालोंको सिखायें।[१२]

नगरपालिकाएँ और शहर-सफाई

पश्चिमसे हम एक चीज जरूर सीख सकते हैं और वह हमें सीखनी ही चाहिए— शहरोंकी सफाईका शास्त्र। पश्चिमके लोगोंने सामुदायिक आरोग्य और सफाईका एक शास्त्र ही तैयार कर लिया है, जिससे हमें बहुत-कुछ सीखना है। बेशक, सफाईकी पश्चिमकी पद्धतियोंको हम अपनी आवश्यकताओंके अनुसार बदल सकते हैं।[१३]

"भगवत्प्रेमके बाद महत्त्वकी दृष्टिसे दूसरा स्थान स्वच्छताके प्रेमका ही है।" जिस तरह हमारा मन मलिन हो तो हम भगवान्का प्रेम सम्पादित नहीं कर सकते, उसी तरह हमारा शरीर मलिन हो तो भी हम उसका आशीर्वाद नहीं पा सकते। और शहर अस्वच्छ हो तो शरीर स्वच्छ रहना संभव नहीं है।[१४]

कोई भी म्युनिसिपैलिटी शहरकी अस्वच्छता और आबादीकी सघनताका सवाल महज टैक्स वसूल करके और सफाईका काम करनेवाले नौकरोंको रखकर हल करनेकी आशा नहीं कर सकती। यह जरूरी सुधार तो अमीर और गरीब, सब लोगोंके सम्पूर्ण और स्वेच्छापूर्ण सहयोगद्वारा ही शक्य है।[१५]

गाँवोंमें तो हम कई बातें किसी किस्मका खतरा उठाये बिना कर सकते हैं। लेकिन शहरोंकी घनी आबादीवाली तंग गलियोंमें, जहाँ साँस लेनेके लिए साफ हवा भी मुश्किलसे मिलती है, हम ऐसा नहीं कर सकते। वहाँका जीवन दूसरे प्रकारका है और वहाँ हमें सफाईके ज्यादा बारीक नियमोंका पालन करना चाहिए। क्या हम ऐसा करते हैं? भारतके हरएक शहरके मध्यवर्ती भागोंमें

सफाईकी जो दयनीय स्थिति दिखायी देती है, उसकी जिम्मेदारी हम म्युनिसिपैलिटीपर नहीं डाल सकते। और मेरा खयाल है कि दुनियाकी कोई भी म्युनिसिपैलिटी लोगोंके अमुक वर्गकी उन आदतोंका प्रतिकार नहीं कर सकती, जो उन्हें पीढ़ियोंकी परम्परासे मिली है। ... इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि अगर हम अपनी म्युनिसिपैलिटीसे यह उम्मीद करते हों कि इन बड़े शहरोंमें जो सफाई संबंधी सुधारका सवाल पेश है उसे वे इस स्वेच्छापूर्ण सहयोगकी मददके बिना ही हल कर लेंगी तो यह अशक्य है। अलबत्ता, मेरा मतलब यह बिलकुल नहीं है कि म्युनिसिपैलिटीकी इस संबंधमें कोई जिम्मेवारी नहीं है।[३६]

मुझे म्युनिसिपैलिटीकी प्रवृत्तियोंमें बहुत दिलचस्पी है। म्युनिसिपैलिटीका सदस्य होना सचमुच बड़ा सौभाग्य है। लेकिन सार्वजनिक जीवनका अनुभव रखनेवाले व्यक्तिके नाते मैं आपसे यह भी कह दूँ कि इस सौभाग्यपूर्ण अधिकारके उचित निर्वाहकी एक अनिवार्य शर्त यह है कि इन सदस्योंको इस पदसे कोई निजी स्वार्थ साधनेकी इच्छा न रखनी चाहिए। उन्हें अपना कार्य सेवाभावसे ही करना चाहिए। तभी उसकी पवित्रता कायम रहेगी। उन्हें अपनेको शहरकी सफाईका काम करनेवाले भंगी कहनेमें गौरवका अनुभव करना चाहिए। मेरी मातृभाषा* में म्युनिसिपैलिटीका एक सार्थक नाम है। लोग उसे 'कचरा-पट्टी' कहते हैं, जिसका मतलब है भंगियोंका विभाग। सचमुच म्युनिसिपैलिटीको सफाई-काम करनेवाली एक प्रमुख संस्था होना ही चाहिए और उसमें न सिर्फ शहरकी बाहरी सफाईका, बल्कि सामाजिक और सार्वजनिक जीवनकी भीतरी सफाईका भी समावेश होना चाहिए।[३७]

...जो लोकल बोर्डों या म्युनिसिपैलिटियोंमें प्रतिनिधियोंकी हैसियतसे जाते हैं, वे वहाँ प्रतिष्ठाके लालचसे या आपसमें लड़ने-झगड़नेके लिए नहीं जाते, बल्कि नागरिकोंकी प्रेमपूर्ण सेवा करनेके लिए जाते हैं। यह सेवा पैसेपर आधार नहीं रखती। हमारा देश गरीब है। अगर म्युनिसिपैलिटियोंमें जानेवाले सदस्योंमें सेवाकी भावना हो, तो वे अवैतनिक मेहतर, भंगी और सड़कें बनानेवाले बन जायेंगे और उसमें गौरवका अनुभव करेंगे। वे दूसरेको अपने काममें शरीक होनेका न्योता देंगे और अपनेमें और अपने कार्यमें उन्हें श्रद्धा होगी, तो उनके उदाहरणका दूसरोंपर अवश्य ही अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।[३८]

११. शिक्षा

अन्य देशोंके बारेमें कुछ भी सही हो, कम-से-कम भारतमें तो—जहाँ अस्सी फीसदी आबादी खेती करनेवाली है और दूसरी दस फीसदी उद्योगोंमें

---

* गुजराती, —सं०

काम करनेवाली है——शिक्षाको निरी साहित्यिक बना देना तथा लड़कों और लड़कियोंको उत्तर-जीवनमें हाथके कामके लिए अयोग्य बना देना गुनाह है । ···चूंकि हमारा अधिकांश समय अपनी रोजी कमानेमें लगता है, इसलिए हमारे बच्चोंको बचपनसे ही इस प्रकारके परिश्रमका गौरव सिखाना चाहिए । हमारे बालकोंकी पढ़ाई ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिससे वे मेहनतका तिरस्कार करने लगें । कोई कारण नहीं कि क्यों एक किसानका बेटा किसी स्कूलमें जानेके बाद खेतीके मजदूरके रूपमें आजकलकी तरह निकम्मा बन जाय । यह अफसोसकी बात है कि हमारी पाठशालाओंके लड़के शारीरिक श्रमको तिरस्कारकी दृष्टिसे चाहे न देखते हों, पर नापसन्दगीकी नजरसे तो जरूर देखते हैं ।[1]

मैं भारतके लिए निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षाके सिद्धान्तमें दृढ़तापूर्वक मानता हूँ । मैं यह भी मानता हूँ कि इस लक्ष्यको पानेका सिर्फ यही एक रास्ता है कि हम बच्चोंको कोई उपयोगी उद्योग सिखायें और उसके द्वारा उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास सिद्ध करें । ऐसा किया जाय तो हमारे गाँवोंके लगातार बढ़ रहे नाशकी प्रक्रिया रुकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्थाकी नींव पड़ेगी जिसमें अमीरों और गरीबोंके अस्वाभाविक विभेदकी गुंजाइश नहीं होगी और हरएकको जीवन-मजदूरी और स्वतंत्रताके अधिकारोंका आश्वासन दिया जा सकेगा ।[2]

मेरी रायमें तो इस देशमें, जहाँ लाखों आदमी भूखों मरते हैं, बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला श्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा या प्रौढ़शिक्षा है ।··· अक्षर-ज्ञान हाथकी शिक्षाके बाद आना चाहिए, हाथसे काम करनेकी क्षमता——हस्त-कौशल ही तो वह चीज है, जो मनुष्यको पशुसे अलग करती है । लिखना-पढ़ना जाने बिना मनुष्यका सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता, ऐसा मानना एक वहम ही है । इसमें शक नहीं कि अक्षर-ज्ञानसे जीवनका सौन्दर्य बढ़ जाता है, लेकिन यह बात गलत है कि उसके बिना मनुष्यका नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास हो ही नहीं सकता ।[3]

मेरा मत है कि बुद्धिकी सच्ची शिक्षा हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि शरीरके अंगोंके ठीक अभ्यास और शिक्षणसे ही हो सकती है । दूसरे शब्दोंमें, इन्द्रियोंके बुद्धिपूर्वक उपयोगसे बालककी बुद्धिके विकासका उत्तम और शीघ्रतम मार्ग मिलता है । परन्तु जबतक मस्तिष्क और शरीरका विकास साथ-साथ न हो और उसी प्रमाणमें आत्माकी जाग्रति न होती रहे, तबतक केवल बुद्धिके एकांगी विकाससे कुछ विशेष लाभ नहीं होगा । आध्यात्मिक शिक्षासे मेरा आशय हृदयकी तालीमसे है । इसलिए मस्तिष्कका ठीक और चतुर्मुखी विकास तभी हो सकता है, जब वह बच्चेकी शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियोंकी तालीमके साथ-साथ होता हो । ये सब बातें एक और

अविभाज्य हैं। इसलिए इस सिद्धान्तके अनुसार यह मान बैठना बिलकुल गलत होगा कि उनका विकास टुकड़े करके या एक-दूसरेसे स्वतंत्र रूपमें किया जा सकता है।

…शरीर, मन और आत्माकी विविध शक्तियोंमें ठीक-ठीक सहकार और सुमेल न होनेके दुष्परिणाम स्पष्ट हैं। वे हमारे चारों ओर विद्यमान हैं; इतना ही है कि वर्तमान विकृत संस्कारोंके कारण वे हमें दिखायी नहीं देते।

…मनुष्य न तो कोरी बुद्धि है, न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है। संपूर्ण मनुष्यके निर्माणके लिए तीनोंके उचित और एकरस मेल-की जरूरत होती है और यही शिक्षाकी सच्ची व्यवस्था है।[४]

शिक्षाकी मेरी योजनामें हाथ अक्षर लिखना सीखनेके पहले औजार चलाना सीखेंगे। आँखें जिस तरह दूसरी चीजोंको तसवीरोंके रूपमें देखती और उन्हें पहचानना सीखती हैं, उसी तरह वे अक्षरों और शब्दोंको तसवीरोंकी तरह देखकर उन्हें पढ़ना सीखेंगी और कान चीजोंके नाम और वाक्योंका आशय पकड़ना सीखेंगे। गरज यह कि सारी तालीम स्वाभाविक होगी। बालकोंपर वह लादी नहीं जायगी, बल्कि वे उसमें स्वतः दिलचस्पी लेंगे। और इसलिए यह तालीम दुनियाकी दूसरी तमाम शिक्षा-पद्धतियोंसे जल्दी फल देनेवाली और सस्ती होगी।[५]

हाथका काम इस सारी योजनाका केन्द्रबिन्दु होगा।…हाथकी तालीमका मतलब यह नहीं होगा कि विद्यार्थी पाठशालाके संग्रहालयमें रखने लायक वस्तुएँ या ऐसे खिलौने बनायें जिनका कोई मूल्य नहीं। उन्हें ऐसी वस्तुएँ बनाना चाहिए, जो बाजारमें बेची जा सकें। कारखानोंके प्रारम्भिक कालमें जिस तरह बच्चे मारके भयसे काम करते थे, उस तरह हमारे बच्चे यह काम नहीं करेंगे। वे उसे इसलिए करेंगे कि इससे उन्हें आनन्द मिलता है और उनकी बुद्धिको स्फूर्ति मिलती है।[६]

हमारे यहाँ जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है, वह तो एक मजाक है; उसमें गाँवोंमें बसनेवाले हिन्दुस्तानकी जरूरतों और माँगोंका जरा भी विचार नहीं किया गया है; और वैसे देखा जाय तो उसमें शहरोंका भी कोई विचार नहीं हुआ है। (ऊपर बतायी हुई) बुनियादी तालीम हिन्दुस्तानके तमाम बच्चों-को, फिर वे गाँवोंके रहनेवाले हों या शहरोंके, हिन्दुस्तानके सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्वोंके साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालकके मन और शरीर दोनों-का विकास करती है; बालकको अपने वतनके साथ जोड़ रखती है। उसे अपने और देशके भविष्यका गौरवपूर्ण चित्र दिखाती है; और उस चित्रमें देखे हुए भविष्यके हिन्दुस्तानका निर्माण करनेमें बालक या बालिका अपने स्कूल जाने-के दिनसे ही हाथ बँटाने लगें, इसका इन्तजाम करती है।[७]

बुनियादी शिक्षाका उद्देश्य दस्तकारीके माध्यमसे बालकोंका शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना है। लेकिन मैं मानता हूँ कि कोई भी पद्धति, जो शैक्षणिक दृष्टिसे सही हो और जो अच्छी तरह चलायी जाय, आर्थिक दृष्टि-से भी उपयुक्त सिद्ध होगी। उदाहरणके लिए, हम अपने बच्चोंको मिट्टीके खिलौने बनाना भी सिखा सकते हैं, जो बादमें तोड़कर फेंक दिये जाते हैं। इससे भी उनकी बुद्धिका विकास तो होगा। लेकिन इसमें इस महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्तकी उपेक्षा होती है कि मनुष्यके श्रम और साधन-सामग्रीका अप-व्यय कदापि न होना चाहिए। उनका अनुत्पादक उपयोग भी कभी नहीं करना चाहिए। अपने जीवनके प्रत्येक क्षणका सदुपयोग ही होना चाहिए, इस सिद्धान्तके पालनका आग्रह नागरिकताके गुणका विकास करनेवाली सर्वोत्तम शिक्षा है, साथ ही इससे बुनियादी तालीम स्वावलम्बी भी बनती है।[८]

हमारे जैसे गरीब देशमें हाथकी तालीम जारी करनेसे दो हेतु सिद्ध होंगे। उससे हमारे बालकोंकी शिक्षाका खर्च निकल आयेगा और वे ऐसा धंधा सीख लेंगे, जिसका अगर वे चाहें तो उत्तर-जीवनमें अपनी जीविकाके लिए सहारा ले सकते हैं। इस पद्धतिसे हमारे बालक आत्म-निर्भर अवश्य हो जायेंगे। राष्ट्र-को कोई चीज इतनी कमजोर नहीं बनायेगी, जितनी यह बात कि हम श्रम-का तिरस्कार करना सीखें।[९]

उच्च शिक्षा

मैं कॉलेजकी शिक्षामें कायापलट करके उसे राष्ट्रीय आवश्यकताओंके अनु-कूल बनाऊँगा। यंत्रविद्याके तथा अन्य इंजीनियरोंके लिए डिग्रियाँ होंगी। वे भिन्न-भिन्न उद्योगोंके साथ जोड़ दिये जायेंगे और उन उद्योगोंको जिन स्नातकों-की जरूरत होगी, उनके प्रशिक्षणका खर्च वे उद्योग ही देंगे। इस प्रकार टाटा-वालोंसे आशा की जायगी कि वे राज्यकी देखरेखमें इंजीनियरोंको तालीम देनेके लिए एक कॉलेज चलायें। इसी तरह मिलोंके संघ अपनी जरूरतोंके स्नातकोंको तालीम देनेके लिए अपना कॉलेज चलायेंगे।

इसी तरह और उद्योगोंके नाम लिये जा सकते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय-वालोंका अपना कॉलेज होगा। अब रह जाते हैं कला, औषधि और खेती। कई खानगी कला-कौशल आज भी स्वावलम्बी हैं। इसलिए राज्य ऐसे कॉलेज चलाना बन्द कर देगा। डॉक्टरीके कॉलेज प्रामाणिक अस्पतालोंके साथ जोड़ दिये जायेंगे। चूँकि ये धनवानोंमें लोकप्रिय हैं, इसलिए उनसे आशा रखी जाती है कि वे स्वेच्छासे दान देकर डॉक्टरीके कॉलेजोंको चलायेंगे। और कृषि-कॉलेज तो अपने नामको सार्थक करनेके लिए स्वावलम्बी होने ही चाहिए। मुझे कुछ कृषि-स्नातकोंका दुःखद अनुभव है। उनका ज्ञान ऊपरी

होता है। उनमें व्यावहारिक अनुभवकी कमी होती है। परन्तु यदि वे देशकी जरूरतोंके अनुसार चलनेवाले और स्वावलम्वी खेतोंपर तालीम लें, तो उन्हें अपनी डिग्रियाँ लेनेके बाद फिर अपने मालिकोंके खर्चपर तजुरवा हासिल नहीं करना पड़ेगा।"

यह सुझाव अक्सर दिया गया है... कि यदि शिक्षा अनिवार्य करनी हो या शिक्षाप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले सब लड़के-लड़कियोंके लिए उसे सुलभ वनाना हो, तो हमारे स्कूल और कॉलेज पूरे नहीं तो करीव-करीव स्वावलम्वी हो जाने चाहिए। दान, राजकीय सहायता अथवा विद्यार्थियोंसे ली जानेवाली फीसके द्वारा भी उन्हें स्वावलम्वी वनाया जा सकता है, लेकिन यहाँ वैसा स्वावलम्वन इष्ट नहीं है। विद्यार्थियोंको खुद कुछ ऐसा काम करते रहना चाहिए, जिससे आर्थिक प्राप्ति हो और इस तरह स्कूल तथा कॉलेज स्वावलम्वी वनें। औद्योगिक तालीमको अनिवार्य बनाकर ही ऐसा किया जा सकता है। विद्यार्थियोंको साहित्यिक तालीमके साथ-साथ औद्योगिक तालीम भी मिलनी चाहिए, इस आवश्यकताके सिवा--और आजकल इस वातका महत्त्व अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है--हमारे देशमें तो औद्योगिक तालीमकी आवश्यकता शिक्षाको स्वावलम्वी बनानेके लिए भी है। लेकिन यह तभी हो सकता है जव हमारे विद्यार्थी श्रमका गौरव अनुभव करना सीखें और हाथ-उद्योगके अज्ञानको अप्रतिष्ठाका चिह्न माना जाने लगे। अमेरिकामें, जो कि दुनियाका सवसे धनी देश है और इसलिए जहाँ शिक्षाको स्वावलम्वी वनानेकी आवश्यकता कम-से-कम है, विद्यार्थी प्रायः अपनी पढ़ाईका पूरा अथवा आंशिक खर्च खुद कोई उद्योग करके निकालते हैं।... अगर अमेरिका अपने स्कूल और कॉलेज इस तरह चलाता है कि विद्यार्थी अपनी पढ़ाईका खर्च खुद निकाल लिया करें, तो हमारे स्कूलों और कॉलेजोंमें तो इस वातकी आवश्यकता और अधिक मानी जानी चाहिए। हम गरीव विद्यार्थियोंको फीसकी माफी आदिकी सुविधा दें, उससे क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं होगा कि हम उनके लिए ऐसा कोई काम दें जिसे करके वे अपना खर्च खुद निकाल लें? भारतीय युवकोंके मनमें यह वहम भरकर कि अपनी जीविका अथवा पढ़ाईका खर्च कमानेके लिए हाथ-पाँवोंकी मेहनत करना भद्रोचित नहीं है, हम उनका अपार अहित करते हैं। यह अहित नैतिक भी है और भौतिक भी है; तथा भौतिककी अपेक्षा नैतिक ज्यादा है। फीस आदिकी माफी धर्मबुद्धि रखनेवाले विद्यार्थीके मनपर आजीवन वोझकी तरह पड़ी रहती है, और ऐसा होना भी चाहिए। अपने उत्तर-जीवनमें कोई इस वातका स्मरण कराना पसन्द नहीं करता कि उसे अपनी शिक्षाके लिए दानका आधार लेना पड़ा था। लेकिन यदि उसने अपनी शिक्षाके लिए परिश्रमपूर्वक उद्योग किया हो और इस तरह अपनी पढ़ाईका खर्च

निकालनेके साथ-साथ अपनी बुद्धि, शरीर और आत्माका विकास भी सिद्ध किया हो, तो ऐसा कौन है जो अपने उन दिनोंको गर्वसे याद न करेगा ?[११]

विश्वविद्यालय

राज्यके विश्वविद्यालय खालिस परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ रहें और वे अपना खर्च परीक्षा-शुल्कसे ही निकाल लिया करें।

विश्वविद्यालय शिक्षाके सारे क्षेत्रकी देखरेख रखेंगें और शिक्षाके विभिन्न विभागोंके पाठ्यक्रम तैयार करके उन्हें मंजूरी देंगे। कोई खानगी स्कूल अपने-अपने विश्वविद्यालयोंसे पूर्व-स्वीकृति लिये बिना नहीं चलाये जाने चाहिए। विश्वविद्यालयके स्वीकृति-पत्र प्रमाणित योग्यतावाले और प्रामाणिक व्यक्तियोंकी किसी भी संस्थाको उदारतापूर्वक दिये जाने चाहिए। और हमेशा यह समझ-कर चला जायगा कि विश्वविद्यालयोंका राज्यपर कोई खर्च नहीं पड़ेगा। उसे सिर्फ एक केन्द्रीय शिक्षा-विभागका खर्च ही उठाना होगा।[१२]

विश्वविद्यालयोंको स्वावलंबी जरूर बनाना चाहिए। राज्यको तो सामान्यतः उन्हीं लोगोंको शिक्षा देनी चाहिए, जिनकी सेवाओंकी उसे आवश्यकता हो। शिक्षाकी अन्य सब शाखाओंके लिए उसे निजी प्रयत्नको ही प्रोत्साहन देना चाहिए। शिक्षाका माध्यम तो एकदम और हर हालतमें बदल दिया जाना चाहिए और प्रान्तीय भाषाओंको उनका उचित स्थान मिलना चाहिए। आज प्रतिदिन पैसेकी जो भयंकर बरबादी बढ़ती जा रही है, उसके बजाय तो उच्च शिक्षाके क्षेत्रमें कुछ समयके लिए मैं अव्यवस्थाको भी अधिक पसंद करूँगा।...

मैं उच्च शिक्षाका विरोधी नहीं हूँ। लेकिन उस उच्च शिक्षाका मैं जरूर विरोधी हूँ, जो कि आज इस देशमें दी जा रही है। मेरी योजनामें आजसे अधिक संख्यामें और अधिक अच्छे पुस्तकालय होंगे, अधिक संख्यामें और अधिक अच्छी प्रयोगशालाएँ होंगी तथा अधिक संख्यामें और अधिक अच्छी अनुसंधान-शालाएँ होंगी। मेरी योजनामें हमारे पास ऐसे रसायनशास्त्रियों, इंजीनियरों तथा अन्य विषयोंके विशेषज्ञोंकी एक बड़ी फौज होगी, जो राष्ट्रके सच्चे सेवक होंगे और उस जनताकी दिनोंदिन बढ़नेवाली विविध प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकेंगे, जो अपने अधिकारों तथा आवश्यकताओंके बारेमें अधिकाधिक जाग्रत बनती जा रही है। और ये सब विशेषज्ञ अंग्रेजी भाषा नहीं बोलेंगे, बल्कि लोगोंकी भाषा बोलेंगे। वे लोग जो ज्ञान प्राप्त करेंगे वह सब लोगोंकी सामूहिक संपत्ति होगा। उस स्थितिमें केवल नकलके बजाय सचमुच मौलिक काम होगा। और उसका खर्च समान रूपसे और न्यायपूर्वक बाँटा जायगा।[१३]

मेरी रायमें विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके लिए रुपया जुटाना लोकतांत्रिक राज्यका काम नहीं है। लोगोंको उनकी जरूरत होगी तो वे आवश्यक पैसा खुद

जुटा लेंगे। इस प्रकार स्थापित विश्वविद्यालय देशके भूषण होंगे। जहाँ शासन विदेशियोंके हाथोंमें होता है, वहाँ लोगोंको जो कुछ मिलता है वह सब ऊपरसे आता है और इस प्रकार वे अधिकाधिक पराधीन हो जाते हैं। जहाँ उसका आधार जनताकी इच्छापर होता है और इसलिए व्यापक होता है, वहाँ हर चीज नीचेसे उठती है और इसलिए टिकती है। वह दीखनेमें भी अच्छी होती है और लोगोंको शक्ति देती है। ऐसी लोकतांत्रिक योजनामें विद्या-प्रचारमें लगाया हुआ रुपया लोगोंको दसगुना लाभ पहुँचाता है, जैसे अच्छी जमीनमें बोया हुआ बीज बढ़िया फसल देता है। विदेशी प्रभुताके अधीन कायम किये गये विश्वविद्यालय उलटी दिशामें चले हैं। शायद दूसरा कोई परिणाम हो भी नहीं सकता था। इसलिए जबतक भारतवर्ष अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रताको पचा न ले, तबतक विश्वविद्यालय कायम करनेके बारेमें हर दृष्टिसे सावधान रहना चाहिए।"[१८]

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियोंकी विशेष शिक्षा कैसी हो और कहाँसे शुरू हो, इसके विषयमें मैं खुद निश्चय नहीं कर सका हूँ। लेकिन यह मेरा दृढ़ मत है कि जितनी सुविधा पुरुषको मिलती है उतनी ही स्त्रीको भी मिलनी चाहिए और जहाँ विशेष सुविधाकी जरूरत हो वहाँ विशेष सुविधा भी मिलनी चाहिए।

आजीवन शिक्षा

सच्ची शिक्षा तो स्कूल छोड़नेके बाद शुरू होती है। जिसने उसका महत्त्व समझा है, वह सदा ही विद्यार्थी है। अपना कर्तव्य-पालन करते हुए उसे अपना ज्ञान रोज बढ़ाना चाहिए। जो सब काम समझकर करता है, उसका ज्ञान रोज बढ़ना ही चाहिए।

शिक्षाकी प्रगतिमें एक चीज रुकावट डालती है। शिक्षकके बिना शिक्षा ली ही नहीं जा सकती, यह वहम समाजकी वृद्धिको रोक रहा है। मनुष्यका सच्चा शिक्षक वह खुद ही है। आजकल तो अपने-आप शिक्षा प्राप्त करनेके साधन खूब बढ़ गये हैं। बहुतसी बातोंका ज्ञान लगनसे हरएकको मिल सकता है और जहाँ शिक्षककी ही जरूरत होती है, वहाँ वह खुद शिक्षक ढूंढ़ लेता है। अनुभव बड़े-से-बड़ा स्कूल है। कई धंधे ऐसे हैं जो स्कूलमें नहीं सीखे जा सकते, बल्कि उन धंधोंकी दूकानोंपर या कारखानोंमें ही सीखे जा सकते हैं। उनका स्कूलमें पाया हुआ ज्ञान अक्सर तोतेका-सा होता है। इसलिए बड़ी उमरवालोंके लिए स्कूलके बजाय इच्छाकी, लगनकी और आत्म-विश्वासकी जरूरत है।

बच्चोंकी शिक्षा माँ-बापका धर्म है। ऐसा सोचें तो हमें बेशुमार पाठशालाओंकी अपेक्षा सच्ची शिक्षाका वायुमण्डल पैदा करनेकी ज्यादा जरूरत

है। वह पैदा हुआ, फिर तो जहाँ पाठशाला चाहिए वहाँ वह जरूर खड़ी हो जायगी।[१५]

प्रौढ़-शिक्षा

जन-साधारणमें फैली हुई व्यापक निरक्षरता भारतका कलंक है। वह मिटना ही चाहिए। बेशक, साक्षरताकी मुहिमका आरम्भ और अन्त वर्णमालाके ज्ञानके साथ ही नहीं हो जाना चाहिए। वह उपयोगी ज्ञानके प्रचारके साथ-साथ चलनी चाहिए। लिखने-पढ़ने और अंकगणितका शुष्क ज्ञान देहातियोंके जीवनका स्थायी अंग न आज है और न कभी हो सकता है। उन्हें ऐसा ज्ञान देना चाहिए जिसका उन्हें रोज उपयोग करना पड़े। वह उनपर थोपा नहीं जाना चाहिए। उसकी उन्हें भूख होनी चाहिए। आजकल उन्हें जो कुछ मिलता है वह ऐसा है, जिसकी न तो उन्हें आवश्यकता है और न कदर है। ग्रामवासियोंको गाँवका गणित, गाँवका भूगोल, गाँवका इतिहास और साहित्यका वह ज्ञान सिखाइये जिसे उन्हें रोज काममें लाना पड़े, अर्थात् चिट्ठी-पत्री लिखना और पढ़ना सिखाइये। वे इस ज्ञानको जुटाकर रखेंगे और आगेकी मंजिलोंकी तरफ बढ़ेंगे। जिन पुस्तकोंसे उन्हें दैनिक उपयोगकी कोई सामग्री नहीं मिलती, वे उनके लिए किसी कामकी नहीं।[१६]

धार्मिक शिक्षण

...इसमें कोई शक नहीं कि सरकारी स्कूल-कॉलेजोंसे निकले हुए अधिकतर लड़के धार्मिक शिक्षणसे कोरे ही होते हैं।... मैं जानता हूँ कि इस विचारवाले लोग भी हैं कि सार्वजनिक स्कूलोंमें सिर्फ अपने-अपने विषयोंकी ही शिक्षा देना चाहिए। मैं यह भी जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जैसे देशमें, जहाँपर संसारके अधिकतर धर्मोंके अनुयायी मिलते हैं और जहाँ एक ही धर्मके इतने भेद और उपभेद हैं, धार्मिक शिक्षणका प्रबन्ध करना कठिन होगा। लेकिन अगर हिन्दुस्तानको आध्यात्मिकताका दिवाला नहीं निकालना है, तो उसे धार्मिक शिक्षाको भी विषयोंके शिक्षणके बराबर ही महत्त्व देना पड़ेगा। यह सच है कि धार्मिक पुस्तकोंके ज्ञानकी तुलना धर्मसे नहीं की जा सकती। मगर जब हमें धर्म नहीं मिल सकता तो हमें अपने लड़कों और लड़कियोंको उससे दूसरे नम्बरकी वस्तु देनेमें ही सन्तोष मानना पड़ेगा।[१७]

अध्यापक

अध्यापक कैसे हों इस सम्बन्धमें मैं इस पुराने विचारका माननेवाला हूँ कि उन्हें अध्यापन, अध्यापन-कार्यके लिए अपने अनिवार्य प्रेमके कारण ही करना

चाहिए और इस कार्यसे अपने जीवन-निर्वाहके लिए जितना आवश्यक हो उतना ही लेकर संतुष्ट रहना चाहिए। रोमन कैथलिकोंमें यह विचार अभीतक बचा रहा है और वे दुनियाकी कुछ सर्वोत्तम संस्थाएँ चला रहे हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियोंने तो और भी ऊँचा आदर्श स्वीकार किया था। वे विद्यार्थियोंको अपने परिवारमें ही शामिल कर लेते थे। लेकिन जो शिक्षा वे उन दिनों दिया करते थे वह सामान्य जनताके लिए नहीं थी। ... सामान्य जनताको उसकी तालीम घरोंमें और अपने परम्परागत उद्योग-धंधोंमें मिलती थी। उन दिनोंके लिए वह काफी अच्छी व्यवस्था थी। अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। साहित्यिक तालीमके लिए आम माँग है और यह माँग जोरदार भी है। विशिष्ट वर्गोंकी शिक्षापर जैसा ध्यान दिया जाता था, सामान्य लोग भी अब अपनी शिक्षापर वैसा ही ध्यान चाहते हैं। ... लोगोंमें ज्ञानकी इच्छा पैदा हुई है। अगर उस इच्छाको उचित दिशामें मोड़ा गया तो उससे लाभ ही होगा। ... इस स्थितिका अच्छेसे अच्छा उपयोग करना चाहिए। इस कामके लिए हजारों शिक्षकोंकी आवश्यकता होगी और वे महज कहनेसे नहीं मिल जायेंगे। और न वे अपना जीवन-निर्वाह भीख माँगकर करेंगे। हमें उन्हें एक निश्चित वेतन देनेकी पूरी व्यवस्था करनी होगी। हमें शिक्षकोंकी मानो एक पूरी सेना ही लगेगी। उनके कार्यके महत्त्व और मूल्यके अनुसार उन्हें पैसा दिया जाय यह तो अशक्य है। राष्ट्र अपनी आर्थिक क्षमताके अनुसार ही उन्हें यथाशक्ति देगा। अलबत्ता, यह आशा रखी जा सकती है कि ज्यों-ज्यों लोग दूसरे धंधोंके मुकाबलेमें इस कार्यके महत्त्वको समझेंगे, त्यों-त्यों वे उन्हें ज्यादा पैसा देनेको भी तैयार होंगे। लेकिन सम्भव है उनकी आयमें यह अपेक्षित वृद्धि बहुत धीरे-धीरे हो। इसलिए ऐसे अनेक पुरुषों और स्त्रियोंको आगे आना चाहिए, जो आर्थिक लाभकी परवाह न करके शुद्ध देशसेवाके भावसे अध्यापनका धंधा अपनायें। यदि ऐसा हो, तो राष्ट्र शिक्षकके धंधेको छोटा नहीं समझेगा, बल्कि इन स्थायी त्यागी स्त्रियों और पुरुषोंको अपना प्रेम और आदर प्रदान करेगा।[१८]

१२. शिक्षाका माध्यम

मैं देशके प्रति इसे अपना कर्तव्य मानता हूँ कि शिक्षाके संबंधमें मेरे विचार सबको स्पष्ट रूपसे मालूम हो जायँ और उनमेंसे जो योग्य मालूम हों उन्हें वे ग्रहण करें। ...

मैं अपने उन निष्कर्षोंको बता दूँ, जिनपर मैं कई बरसोंसे पहुँच चुका हूँ और जब भी कभी मौका मिला है, उन्हें अमलमें लानेकी मैंने कोशिश की है :

(१) दुनियामें प्राप्त हो सकनेवाली ऊँचीसे ऊँची शिक्षाका भी मैं विरोधी नहीं हूँ।

(२) राज्यको जहाँ भी इस शिक्षाका निश्चित उपयोग हो, वहाँ इसका खर्च उसे उठाना चाहिए।

(३) मैं राज्यके सामान्य राजस्वसे किसी भी तरहकी उच्च शिक्षाका खर्च चलानेके विरुद्ध हूँ।

(४) मेरा यह पक्का विश्वास है कि हमारे कॉलेजोंमें साहित्यकी जो विशाल मात्रामें तथाकथित शिक्षा दी जाती है, वह सब बिलकुल व्यर्थ है और उसका परिणाम शिक्षित वर्गोंकी बेकारीके रूपमें हमारे सामने आया है। यही नहीं, बल्कि जिन लड़के-लड़कियोंको हमारे कॉलेजोंकी चक्कीमें पिसनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यको भी इस शिक्षाने चौपट कर दिया है।

(५) विदेशी भाषाके माध्यमने, जिसके जरिये भारतमें उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्रको अपार बौद्धिक और नैतिक हानि पहुँचायी है। अभी हम अपने इस जमानेके इतने पास हैं कि इस नुकसानकी भयंकरताका ठीक अंदाज नहीं लगा सकते। इसके सिवा, ऐसी शिक्षा पानेवाले हमीं लोगोंको इसके शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो लगभग असंभव काम है।

अब मेरे लिए यह बताना आवश्यक है कि मैं इन निष्कर्षोंपर क्यों पहुँचा। यह शायद मैं अपने कुछ अनुभवोंके आधारपर ही उत्तम ढंगसे बता सकता हूँ।

१२ बरसकी उमरतक मैंने जो भी शिक्षा पायी वह अपनी मातृभाषा गुजरातीमें पायी थी। उस समय गणित, इतिहास और भूगोलका मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। इसके बादमें एक हाईस्कूलमें दाखिल हुआ। इसमें भी पहले तीन साल तो मातृभाषा ही शिक्षाका माध्यम रही। लेकिन स्कूल-मास्टरका काम तो विद्यार्थियोंके दिमागमें जबरदस्ती अंग्रेजी ठूंसना था। इसलिए हमारा आधेसे अधिक समय अंग्रेजी सीखने और उसके मनमाने हिज्जों तथा उच्चारणपर काबू पानेमें लगाया जाता था। ऐसी भाषाका पढ़ना हमारे लिए एक कष्टपूर्ण अनुभव था, जिसका उच्चारण ठीक उसी तरह नहीं होता जैसी कि वह लिखी जाती है। हिज्जोंको कण्ठस्थ करना एक अजीब-सा अनुभव था। लेकिन यह तो मैं प्रसंगवश कह गया, वस्तुतः मेरी दलीलसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर पहले तीन साल तो तुलनामें ठीक ही निकल गये।

जिल्लत तो चौथे सालसे शुरू हुई। रेखागणित (ज्यामेट्री), अलजबरा (बीजगणित), केमिस्ट्री (रसायनशास्त्र), एस्ट्रानामी (ज्योतिष), हिस्ट्री (इतिहास), ज्याग्राफी (भूगोल),––हरएक विषय मातृभाषाके बजाय अंग्रेजीमें ही पढ़ना पड़ता था। अंग्रेजीका जुल्म इतना अधिक था कि संस्कृत या फारसी भी मातृभाषाके द्वारा नहीं, बल्कि अंग्रेजीके माध्यमसे सीखनी पड़ती थी। कक्षामें

अगर कोई विद्यार्थी गुजराती बोलता, जिसे वह समझता था, तो उसे सजा दी जाती थी। अगर कोई लड़का बुरी अंग्रेजी बोलता, जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सकता था और न शुद्ध बोल सकता था, तो भी शिक्षकको कोई आपत्ति नहीं होती थी। शिक्षक भला इस बातकी फिक्र क्यों करे? क्योंकि खुद उसकी ही अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। इसके सिवा और हो भी क्या सकता था? क्योंकि अंग्रेजी उसके लिए भी उसी तरह विदेशी भाषा थी, जिस तरह उसके विद्यार्थियोंके लिए थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती थी। हम विद्यार्थियोंको अनेक बातें कण्ठस्थ करनी पड़ती थीं, हालाँकि हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं पाते थे और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं समझ पाते थे। शिक्षक जब हमें ज्यामेट्री (रेखागणित) समझानेके लिए बड़ा प्रयत्न करता, तब मेरा सिर घूमने लगता था। सच तो यह है कि युक्लिड (रेखागणित) की पहली पुस्तकके १३वें प्रमेयतक हम पहुँच न गये, तबतक मेरी समझमें ज्यामेट्री बिलकुल नहीं आयी। और अपने पाठकोंके सामने मुझे यह मंजूर करना ही चाहिए कि मातृभाषाके अपने सारे प्रेमके बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्यामेट्री, अलजबरा आदिकी पारिभाषिक बातोंको गुजरातीमें क्या कहते हैं। हाँ, यह अब मैं जरूर देखता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीज-गणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखनेमें मुझे चार साल लगे, उतना मैंने एक ही सालमें आसानीसे सीख लिया होता, अगर अंग्रेजीके बजाय मैंने उन्हें गुजरातीमें पढ़ा होता। उस हालतमें मैं आसानी और स्पष्टताके साथ इन विषयोंको समझ लेता। गुजरातीका मेरा शब्दज्ञान कहीं ज्यादा समृद्ध हो गया होता और उस ज्ञानका मैंने अपने घरमें उपयोग किया होता। लेकिन इस श्रेणीके अंग्रेजीके माध्यमने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियोंके बीच, जो कि अंग्रेजी स्कूलोंमें नहीं पढ़े थे, एक अगम्य खाई खड़ी कर दी थी। मेरे पिताको कुछ पता न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं अगर चाहता तो भी अपने पिताकी इस बातमें दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि क्या पढ़ रहा हूँ। क्योंकि यद्यपि बुद्धिकी उनमें कोई कमी न थी, मगर वे अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस प्रकार मैं अपने ही घरमें बड़ी तेजीके साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरोंसे ऊँचा आदमी बन गया था। यहाँतक कि मेरी पोशाक भी अदृष्ट रूपसे अपने-आप बदलने लगी थी। लेकिन मेरा जो हाल हुआ, वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था, बल्कि अधिकांश लोगोंका यही हाल होता है।

हाईस्कूलके प्रथम तीन वर्षोंमें मेरे सामान्य ज्ञानमें बहुत कम वृद्धि हुई। यह समय तो लड़कोंको हरएक चीज अंग्रेजीके जरिये सीखनेकी तैयारीका था। हाई-स्कूल तो अंग्रेजीकी सांस्कृतिक विजयके लिए थे। मेरे हाईस्कूलके तीन सौ विद्या-र्थियोंने जो ज्ञान प्राप्त किया, वह तो हमींतक सीमित रहा, वह सर्वसाधारणतक पहुँचानेके लिए नहीं था।

एक-दो शब्द साहित्यके बारेमें भी। अंग्रेजी गद्य और पद्यकी हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थीं। इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था। लेकिन सर्व-साधारणकी सेवा या उसके संपर्कमें आनेमें उस ज्ञानका मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहनेमें असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता, तो मैं एक बेशकीमती खजानेसे वंचित रह जाता। इसके बजाय सच तो यह है कि अगर वे सात साल मैंने गुजरातीपर प्रभुत्व प्राप्त करनेमें लगाये होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयोंको गुजरातीमें पढ़ा होता तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञानमें मैंने अपने अड़ोसी-पड़ोसियोंको आसानीसे हिस्सेदार बनाया होता। उस हालतमें मैंने गुजराती साहित्यको समृद्ध किया होता। और कौन कह सकता है कि अमलमें उतारनेकी अपनी आदत तथा देश और मातृभाषाके प्रति अपने बेहद प्रेमके कारण सर्व-साधारणकी सेवामें मैं और भी अधिक समृद्ध और अधिक महान् सहयोग न दे पाता ?[1]

विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पानेमें जो बोझ दिमागपर पड़ता है वह असह्य है। यह बोझ केवल हमारे ही बच्चे उठा सकते हैं, लेकिन उसकी कीमत उन्हें चुकानी ही पड़ती है। वे दूसरा बोझ उठानेके लायक नहीं रह जाते। इससे हमारे ग्रेज्युएट अधिकतर निकम्मे, कमजोर, निरुत्साही, रोगी और कोरे नकलची बन जाते हैं। उनमें खोजकी शक्ति, विचार करनेकी ताकत, साहस, धीरज, बहादुरी, निडरता आदि गुण बहुत क्षीण हो जाते हैं। इससे हम नयी योजनाएँ नहीं बना सकते। बनाते हैं तो उन्हें पूरा नहीं कर सकते। कुछ लोग, जिनमें उपर्युक्त गुण दिखायी देते हैं, अकाल मृत्युके शिकार हो जाते हैं।.....अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए हम लोग इस नुकसानका अंदाज नहीं लगा सकते। यदि हम यह अंदाज लगा सकें कि सामान्य लोगोंपर हमने कितना कम असर डाला है, तो उसका कुछ खयाल हो सकता है।

माँके दूधके साथ जो संस्कार मिलते हैं और जो मीठे शब्द सुनायी देते हैं, उनके और पाठशालाके बीच जो मेल होना चाहिए, वह विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा लेनेसे टूट जाता है। इसे तोड़नेवालोंका हेतु पवित्र हो तो भी वे जनताके दुश्मन हैं। हम ऐसी शिक्षाके शिकार होकर मातृद्रोह करते हैं। विदेशी भाषाद्वारा मिलने-वाली शिक्षाकी हानि यहीं नहीं रुकती। शिक्षित वर्ग और सामान्य जनताके बीचमें भेद पड़ गया है। हम सामान्य जनताको नहीं पहचानते। सामान्य जनता हमें नहीं जानती। हमें तो वह साहब समझ बैठती है और हमसे डरती है; वह हमपर भरोसा नहीं करती। ...यह रुकावट पैदा हो जानेसे राष्ट्रीय-जीवनका प्रवाह रुक गया है।

...जब अंग्रेजी अपनी जगहपर चली जायगी और मातृभाषाको अपना पद मिल जायगा, तब हमारे मन जो अभी रूँधे हुए हैं, कैदसे छूटेंगे और शिक्षित तथा सुसंस्कृत होनेपर भी ताजा रहे हुए दिमागको अंग्रेजी भाषाका ज्ञान प्राप्त करनेका

बोझ भारी नहीं लगेगा। और मेरा तो यह भी विश्वास है कि उस समय सीखी हुई अंग्रेजी हमारी आजकी अंग्रेजीसे ज्यादा शोभा देनेवाली होगी।

जब हम मातृभाषाद्वारा शिक्षा पाने लगेंगे, तब हमारे घरके लोगोंके साथ हमारा दूसरा ही संबंध रहेगा। आज हम अपनी स्त्रियोंको अपनी सच्ची जीवन-सहचरी नहीं बना सकते। उन्हें हमारे कामोंका बहुत कम पता होता है। हमारे माता-पिताको हमारी पढ़ाईका कुछ पता नहीं होता। यदि हम अपनी भाषाके जरिये सारा ऊँचा ज्ञान लेते हों, तो हम अपने धोबी, नाई, भंगी, सबको सहज ही शिक्षा दे सकेंगे। विलायतमें हजामत कराते-कराते हम नाईसे राजनीतिकी बातें कर सकते हैं। यहाँ तो हम अपने कुटुम्बमें भी ऐसा नहीं कर सकते। इसका कारण यह नहीं कि हमारे कुटुम्बी या नाई अज्ञानी हैं। उस अंग्रेज नाईके बराबर ज्ञानी तो ये भी हैं। इनके साथ हम महाभारत, रामायण और तीर्थोंकी बातें करते हैं, क्योंकि जनताको इसी दिशाकी शिक्षा मिलती है। परन्तु स्कूलकी शिक्षा घरतक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि अंग्रेजीमें सीखा हुआ हम अपने कुटुम्बियोंको नहीं समझा सकते।

आजकल हमारी धारासभाओंका सारा कामकाज अंग्रेजीमें होता है। बहुतेरे क्षेत्रोंमें यही हाल हो रहा है। इससे विद्याधन कंजूसकी दौलतकी तरह गड़ा हुआ पड़ा रहता है।···अंग्रेजी भाषा पढ़नेके बोझसे कुचले हुए हम लोग ··· जनताको जो कुछ मिलना चाहिए वह नहीं दे सकते। इस वाक्यमें अतिशयोक्ति नहीं है। वह तो मेरी तीव्र भावना बतानेवाला है। मातृभाषाका जो अनादर हम कर रहे हैं, उसका हमें भारी प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। इससे आम जनताका बड़ा नुकसान हुआ है। इस नुकसानसे उसे बचाना मैं पढ़े-लिखे लोगोंका पहला फर्ज समझता हूँ।[२]

अंग्रेजी सीखनेके लिए हमारा जो विचारहीन मोह है, उससे खुद मुक्त होकर और समाजको मुक्त करके हम भारतीय जनताकी एक बड़ी-से-बड़ी सेवा कर सकते हैं। ···अंग्रजीके ज्ञानकी आवश्यकताके विश्वासने हमें गुलाम बना दिया है। उसने हमें सच्ची देश-सेवा करनेमें असमर्थ बना दिया है। अगर आदतने हमें अंधा न बना दिया होता, तो हम यह देखे बिना न रहते कि शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी होनेके कारण जनतासे हमारा सम्बन्ध टूट गया है, राष्ट्रका उत्तम मानस उपयुक्त भाषाके अभावमें अप्रकाशित रह जाता है और आधुनिक शिक्षासे हमें जो नये-नये विचार प्राप्त हुए हैं, उनका लाभ सामान्य लोगोंको न मिलता। पिछले ६० वर्षोंसे हमारी सारी शक्ति ज्ञानोपार्जनके बजाय अपरिचित शब्द और उनके उच्चारण सीखनेमें खर्च हो रही है। हमें अपने माता-पितासे जो तालीम मिलती है उसकी नींवपर नया निर्माण करनेके बजाय हमने उस तालीमको ही भुला दिया है। इतिहासमें इस बातकी कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती। यह हमारे राष्ट्रकी एक अत्यन्त दुःखपूर्ण घटना है। हमारी पहली और बड़ी-से-बड़ी समाज-सेवा यह होगी कि हम

अपनी प्रान्तीय भाषाओंका उपयोग शुरू करें, हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें उसका स्वाभाविक स्थान दें, प्रान्तीय कामकाज प्रान्तीय भाषाओंमें करें और राष्ट्रीय कामकाज हिन्दीमें करें। जबतक हमारे स्कूल और कॉलेज प्रान्तीय भाषाओंके माध्यमसे शिक्षण देना शुरू नहीं करते, तबतक हमें इस दिशामें लगातार कोशिश करनी चाहिए।[१]

यह मेरा निश्चित मत है कि आजकी अंग्रेजी शिक्षाने शिक्षित भारतीयोंको निर्बल और शक्तिहीन बना दिया है।...राजा राममोहनराय ज्यादा बड़े सुधारक हुए होते और लोकमान्य तिलक ज्यादा बड़े विद्वान् बने होते, अगर उन्हें अंग्रेजीमें सोचने और अपने विचारोंको दूसरोंतक मुख्यतः अंग्रेजीमें पहुँचानेकी कठिनाईसे आरम्भ न करना पड़ता। अगर वे थोड़ी कम अस्वाभाविक पद्धतिमें पढ़-लिखकर बड़े होते, तो अपने लोगोंपर उनका असर, जो कि अद्‌भुत था, और भी ज्यादा होता। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी साहित्यके समृद्ध भंडारका ज्ञान प्राप्त करनेसे इन दोनोंको लाभ हुआ। लेकिन इस भंडारतक उनकी पहुँच उनकी अपनी मातृभाषाओंके जरिये होनी चाहिए थी। कोई भी देश नकलचियोंकी जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बना सकता।

...मैं जानता हूँ कि तुलनाएँ करना अच्छा नहीं है। अपने-अपने ढंगसे सभी समान रूपसे बड़े हैं। लेकिन फलकी दृष्टिसे देखें तो जनतापर राममोहनरायका, तिलकका असर उतना स्थायी और दूरगामी नहीं है जितना कि चतन्य आदिका। उन्हें जिन बाधाओंका मुकाबला करना पड़ा, उनकी दृष्टिसे वे असाधारण कोटिके महापुरुष थे; और यदि जिस शिक्षा-प्रणालीसे उन्हें अपनी तालीम लेनी पड़ी उसकी बाधा उन्हें न सहनी पड़ी होती, तो उन्होंने अवश्य ही ज्यादा बड़ी सफलताएँ प्राप्त की होतीं। मैं यह माननेसे इनकार करता हूँ कि यदि राजा राममोहनराय और लोकमान्य तिलकको अंग्रेजी भाषाका ज्ञान न होता, तो उन्हें वे सब विचार सूझते ही नहीं जो उन्होंने दिये। भारत आज जिन वहमोंका शिकार है, उनमें सबसे बड़ा वहम यह है कि स्वातंत्र्यसे सम्बन्धित विचारोंको हृदयंगम करनेके लिए और तर्कशुद्ध चिन्तनकी क्षमताका विकास करनेके लिए अंग्रेजी भाषाका ज्ञान आवश्यक है। यह याद रखना जरूरी है कि पिछले पचास वर्षोंसे देशके सामने शिक्षाकी एक ही प्रणाली रही है और विचारोंकी अभिव्यक्तिके लिए उसके पास जबरन् लादा हुआ एक ही माध्यम रहा है। इसलिए हमारे पास इस बातका निर्णय करनेके लिए कि मौजूदा स्कूलों और कॉलेजोंमें मिलनेवाली शिक्षा न होती तो हमारी क्या हालत होती, जो सामग्री चाहिए वह है ही नहीं। लेकिन यह हम जरूर जानते हैं कि भारत पचास साल पहलेकी अपेक्षा आज ज्यादा गरीब है, अपनी रक्षा करनेमें आज ज्यादा असमर्थ है और उसके लड़के-लड़कियोंकी शरीर-सम्पत्ति घट गयी है।...

इस शिक्षा-प्रणालीका जन्म ही एक बड़ी भ्रान्तिमेंसे हुआ है। अंग्रेज शासक ईमानदारीसे यह मानते थे कि देशी शिक्षा-प्रणाली निकम्मीसे भी ज्यादा बुरी है। और इस शिक्षा-प्रणालीका पोषण पापमें हुआ क्योंकि उसका उद्देश्य भारतीयों-को शरीर, मन और आत्मासे बौना बनानेका रहा है।[४] ···मैकालेने शिक्षाकी जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामीकी बुनियाद थी। उसने इसी इरादेसे अपनी योजना बनायी थी, ऐसा मैं सुझाना नहीं चाहता। लेकिन उसके कामका नतीजा यही निकला है। ···यह क्या कम जुल्मकी बात है कि अपने देशमें अगर मुझे इन्साफ पाना हो तो मुझे अंग्रेजी भाषाका उपयोग करना पड़े। बैरिस्टर होनेपर मैं स्वभाषा बोल नहीं सकूं! दूसरे आदमीको मेरे लिए तरजुमा कर देना चाहिए! यह कुछ कम दंभ है? यह गुलामीकी हद नहीं तो और क्या है? इसमें अंग्रेजोंका दोष निकालूं या अपना? हिन्दुस्तानको गुलाम बनानेवाले तो हम अंग्रेजी जाननेवाले लोग हैं। प्रजाकी हाय अंग्रेजोंपर नहीं पड़ेगी, बल्कि हम लोगोंपर पड़ेगी।[५]

···आज अगर लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं, तो व्यापारी बुद्धिसे और तथाकथित राजनीतिक फायदेके लिए ही पढ़ते हैं। हमारे विद्यार्थी ऐसा मानने लगे हैं और अभीकी हालत देखते हुए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि अंग्रेजीके बिना उन्हें सरकारी नौकरी हरगिज नहीं मिल सकती। लड़कियोंको तो इसीलिए अंग्रेजी पढ़ाई जाती है कि उन्हें अच्छा वर मिल जायगा। मैंने ऐसे कितने ही पति देखे हैं कि जिनकी स्त्रियाँ उनके साथ या उनके दोस्तोंके साथ अंग्रेजी न बोल सकें तो उन्हें दुःख होता है। मैं ऐसे कुछ कुटुम्बोंको भी जानता हूँ, जिनमें अंग्रेजी भाषाको अपनी मातृ-भाषा 'बना लिया' जाता है।····इस बुराईने समाजमें इतना घर कर लिया है, मानो शिक्षाका अर्थ अंग्रेजी भाषाके ज्ञानके सिवा और कुछ है ही नहीं। मेरे खयालसे तो ये सब हमारी गुलामी और गिरावटकी साफ निशानियाँ हैं। ···मैं नहीं चाहता कि मेरा घर सब तरफ खड़ी हुई दीवारोंसे घिरा रहे और उसके दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द कर दी जायँ। मैं भी यही चाहता हूँ कि मेरे घरके आसपास देश-विदेशकी संस्कृतिकी हवा बहती रहे। पर मैं यह नहीं चाहता कि उस हवासे जमीनपरसे मेरे पैर उखड़ जायँ और मैं औंधे मुँह गिर पड़ूं। मैं दूसरेके घरमें अतिथि, भिखारी या गुलामकी हैसियतसे रहनेके लिए तैयार नहीं। झूठे घमण्डके वश होकर या तथाकथित सामाजिक प्रतिष्ठा पानेके लिए मैं अपने देशकी बहनोंपर अंग्रेजी विद्याका नाहक बोझ डालनेसे इनकार करता हूं। मैं चाहता हूँ कि हमारे देशके जवान लड़के-लड़कियोंको साहित्यमें रस हो, तो वे भले ही दुनियाकी दूसरी भाषाओंकी तरह ही अंग्रेजी भी जी भरकर पढ़ें। फिर मैं उनसे आशा रखूँगा कि वे अपने अंग्रेजी पढ़नेका लाभ डॉ॰ बोस, राय और कवि-सम्राट्*की तरह हिन्दु-

---

* डॉ॰ जगदीशचन्द्र बोस, सर प्रफुल्लचन्द्र राय और रवीन्द्रनाथ टैगोर।—सं॰

स्तानको और दुनियाको दें। लेकिन मुझे यह नहीं बरदाश्त होगा कि हिन्दुस्तानका एक भी आदमी अपनी मातृभाषाको भूल जाय, उसकी हँसी उड़ाये, उससे शरमाये या उसे यह लगे कि वह अपने अच्छेसे अच्छे विचार अपनी भाषामें नहीं रख सकता। मैं संकुचित या बन्द दरवाजेवाले धर्ममें विश्वास ही नहीं रखता। मेरे धर्ममें ईश्वरकी पैदा की हुई छोटीसे छोटी चीजके लिए भी जगह है। मगर उसमें जाति, धर्म, वर्ण या रंगके घमण्डके लिए कोई स्थान नहीं।[६]

विदेशी माध्यमने हमारी देशी भाषाओंकी प्रगति और विकासको रोक दिया है। अगर मेरे हाथमें तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आजसे ही विदेशी माध्यमके जरिये दी जानेवाली हमारे लड़कों और लड़कियोंकी शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरोंसे यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त करा दूँ। मैं पाठ्यपुस्तकोंकी तैयारीका इन्तजार नहीं करूँगा। वे तो माध्यमके परिवर्तनके पीछे-पीछे अपने-आप चली आयेंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए।[७]

हमें जो कुछ उच्च शिक्षा मिली है अथवा जो भी शिक्षा मिली है, वह केवल अंग्रेजीके ही द्वारा न मिली होती, तो ऐसी स्वयंसिद्ध बातकी दलीलें देकर सिद्ध करनेकी कोई जरूरत न होती कि किसी भी देशके बच्चोंको अपनी राष्ट्रीयता टिकाये रखनेके लिए नीची या ऊँची सारी शिक्षा उनकी मातृ-भाषाके जरिये ही मिलनी चाहिए। यह स्वयंसिद्ध बात है कि जबतक किसी देशके नौजवान ऐसी भाषामें शिक्षा पाकर उसे पचा न लें जिसे प्रजा समझ सके, तबतक वे अपने देशकी जनताके साथ न तो जीता-जागता संबंध पैदा कर सकते हैं और न उसे कायम रख सकते हैं। आज इस देशके हजारों नौजवान एक ऐसी विदेशी भाषा और उसके मुहावरेपर अधिकार पानेमें कई साल नष्ट करनेको मजबूर किये जाते हैं, जो उनके दैनिक जीवनके लिए बिलकुल बेकार हैं और जिसे सीखनेमें उन्हें अपनी मातृभाषा या उसके साहित्यकी अपेक्षा करनी पड़ती है। इससे होनेवाली राष्ट्रकी अपार हानिका अंदाजा कौन लगा सकता है? इससे बढ़कर कोई वहम कभी था ही नहीं कि अमुक भाषाका विकास हो ही नहीं सकता, या उसके द्वारा गूढ़ अथवा वैज्ञानिक विचार समझाये ही नहीं जा सकते। भाषा तो अपने बोलनेवालोंके चरित्र और विकासका सच्चा प्रतिबिम्ब है।

विदेशी शासनके अनेक दोषोंमें देशके नौजवानोंपर डाला गया विदेशी भाषाके माध्यमका घातक बोझ इतिहासमें एक सबसे बड़ा दोष माना जायगा। इस माध्यमने राष्ट्रकी शक्ति हर ली है, विद्यार्थियोंकी आयु घटा दी है, उन्हें आम जनतासे दूर कर दिया है और शिक्षणको बिना कारण खर्चीला बना दिया है। अगर यह प्रक्रिया अब भी जारी रही, तो जान पड़ता है वह राष्ट्रकी आत्माको नष्ट कर देगी। इसलिए शिक्षित भारतीय जितनी जल्दी विदेशी माध्यमके

भयंकर वशीकरणसे वाहर निकल जायँ, उतना ही उनका और जनताका लाभ होगा।[६]

यह हरगिज न समझना चाहिए कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्यका मैं विरोधी हूँ। 'हरिजन'* मेरे अंग्रेजी-प्रेमका पर्याप्त प्रमाण है। लेकिन उसके साहित्यकी महत्ता राष्ट्रके लिए उससे अधिक उपयोगी नहीं जितना कि इंग्लैंडका समशीतोष्ण-जलवायु या वहाँके सुन्दर दृश्य हो सकते हैं। भारतको तो अपने ही जलवायु, दृश्यों और साहित्योंमें तरक्की करनी होगी, फिर चाहे वे अंग्रेजी जलवायु, दृश्यों और साहित्यसे घटिया दरजेके ही क्यों न हों। हमें और हमारे वच्चोंको तो अपनी ही विरासत बनानी चाहिए। अगर हम दूसरोंकी विरासत लेंगे तो हमारी अपनी नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि विदेशी सामग्रीपर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषाका भंडार भरे और इसके लिए संसारकी अन्य भाषाओंका भंडार भी अपनी ही देशी भाषाओंमें संचित करे। रवीन्द्रनाथकी अनुपम कृतियोंका सौंदर्य जाननेके लिए मुझे बंगाली पढ़नेकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सुन्दर अनुवादोंके द्वारा मैं उसे पा लेता हूँ। इसी तरह टॉल्स्टॉयकी संक्षिप्त कहानियोंकी कदर करनेके लिए गुजराती लड़के-लड़कियोंको रूसी भाषा पढ़नेकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादोंके जरिये वे उन्हें पढ़ लेते हैं। अंग्रेजोंको इस बातका गर्व है कि संसारकी सर्वोत्तम साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होनेके एक सप्ताहके अन्दर-अन्दर सरल अंग्रेजीमें उनके हाथोंमें आ पहुँचती हैं। एसी हालतमें, शेक्सपियर और मिल्टनके सर्वोत्तम विचारों और रचनाओंके लिए मुझे अंग्रेजी पढ़नेकी जरूरत क्यों हो?

···मेरी सम्मतिमें यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय साहित्यज्ञों (पंडितों) के द्वारा हो। वे इस बातका निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थानके लड़के-लड़कियोंकी पढ़ाई किस भाषामें हो। क्योंकि इस प्रश्नका निर्णय तो हरएक देशमें पहले ही (प्रकृति द्वारा) हो चुका है···उन्हें तो···राष्ट्रकी इच्छाको यथा-संभव सर्वोत्तम रूपसे अमलमें लाना है।···जबतक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्नके साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, तबतक मुझे इस बातका बहुत भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारतका स्वप्न देखते हैं, उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे।[९]

मेरा यह कहना नहीं है कि हम शेष दुनियासे बचकर रहें या अपने आसपास दीवालें खड़ी कर लें।···लेकिन मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृतिका सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात् करें। दूसरी संस्कृतियोंके सम्मानकी, उनकी विशेषताओंको समझने और स्वीकार करनेकी बात उसके बाद ही आ सकती

* अंग्रेजी साप्ताहिक जिसका संपादन स्वयं गांधीजी करते थे।—सं०

है, उसके पहले कभी नहीं। मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृतिमें जैसी मूल्यवान् निधियाँ हैं, वैसी किसी दूसरी संस्कृतिमें नहीं है। हमने उसे पहचाना नहीं है; हमें उसके अध्ययनका तिरस्कार करना, उसके गुणोंकी कम कीमत करना सिखाया गया है। अपने आचरणमें उसका व्यवहार करना तो हमने लगभग छोड़ ही दिया है। आचारके बिना कोरा बौद्धिक ज्ञान उस निर्जीव देहकी तरह है, जिसे मसाला भरकर सुरक्षित रखा जाता है। वह शायद देखनेमें अच्छा लग सकता है, किन्तु उसमें प्रेरणा देनेकी शक्ति नहीं होती। मेरा धर्म मुझे आदेश देता है कि मैं अपनी संस्कृतिको सीखूँ, ग्रहण करूँ और उसके अनुसार चलूँ; अन्यथा अपनी संस्कृतिसे विच्छिन्न होकर हम एक समाजके रूपमें मानो आत्महत्या कर लेंगे। किन्तु साथ ही वह मुझे दूसरोंकी संस्कृतियोंका अनादर करने या उन्हें तुच्छ समझनेसे भी रोकता है।[१०]

···हिन्दुस्तानकी महान् भाषाओंकी जो अवगणना हुई है और उसकी वजहसे हिन्दुस्तानको जो बेहद नुकसान पहुँचा है, उसका कोई अंदाजा या माप आज हम निकाल नहीं सकते, क्योंकि हम इस घटनाके बहुत नजदीक हैं। मगर इतनी बात तो आसानीसे समझी जा सकती है कि अगर आजतक हुए नुकसानका इलाज नहीं किया गया, यानी जो हानि हो चुकी है उसकी भरपाई करनेकी कोशिश हमने न की, तो हमारी आम जनताको मानसिक मुक्ति नहीं मिलेगी। वह रूढ़ियों और वहमोंसे घिरी रहेगी। नतीजा यह होगा कि आम जनता स्वराज्यके निर्माणमें कोई ठोस मदद नहीं पहुँचा सकेगी। अहिंसाकी बुनियादपर रचे गये स्वराज्यकी चर्चामें यह बात शामिल है कि हमारा हरएक आदमी (उसके निर्माणमें) खुद स्वतंत्र रूपसे सीधा हाथ बँटाये। लेकिन अगर हमारी आम जनता (स्वराज्य के) हर पहलू और उसकी हर सीढ़ीसे परिचित न हो और उसके रहस्यको भलीभाँति न समझती हो, तो स्वराज्यकी रचनामें वह अपना हिस्सा किस तरह अदा करेगी?[११]

मेरी मातृभाषामें कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा जिस तरह अपनी माँकी छातीसे। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजीको भी उसकी जगह प्यार करता हूँ। लेकिन अगर अंग्रेजी उस जगहको हड़पना चाहती है जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनियाकी भाषा बन गयी है। इसलिए मैं उसे दूसरी जबानके तौरपर जगह दूँगा—लेकिन विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रममें, स्कूलोंमें नहीं। वह कुछ लोगोंके सीखनेको चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ोंकी नहीं। आज जब हमारे पास प्राइमरी शिक्षाको भी मुल्कमें लाजिमी बनानेके जरिये नहीं हैं, तो हम अंग्रेजी सिखानेके जरिये कहाँसे जुटा सकते हैं? रूसने बिना अंग्रेजीके विज्ञानमें इतनी उन्नति की है। आज अपनी मानसिक गुलामीकी वजहसे

ही हम यह मानने लगे हैं कि अंग्रेजीके बिना हमारा काम चल नहीं सकता। मैं इस चीजको नहीं मानता।[१२]

अगर सरकारें और उनके दफ्तर सावधानी नहीं लेंगे, तो मुमकिन है कि अंग्रेजी भाषा हिन्दुस्तानीकी जगहको हड़प ले। इससे हिन्दुस्तानके उन करोड़ों लोगोंको बेहद नुकसान होगा, जो कभी भी अंग्रेजी समझ नहीं सकेंगे। मेरे खयालमें प्रान्तीय सरकारोंके लिए यह बहुत आसान बात होनी चाहिए कि वे अपने यहाँ ऐसे कर्मचारी रखें, जो सारा काम प्रान्तीय भाषाओंमें और अन्तर-प्रान्तीय भाषामें कर सकें। मेरी रायमें अन्तर-प्रान्तीय भाषा सिर्फ नागरी या उर्दू लिपिमें लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

यह जरूरी फेरफार करनेमें एक दिन भी खोना देशको भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है। सबसे पहली और जरूरी चीज यह है कि हम अपनी उन प्रान्तीय भाषाओंका संशोधन करें, जो हिन्दुस्तानको वरदानकी तरह मिली हुई हैं। यह कहना दिमागी आलसके सिवा और कुछ नहीं है कि हमारी अदालतों, हमारे स्कूलों और यहाँतक कि हमारे दफ्तरोंमें भी यह भाषा-सम्बन्धी फेरफार करनेके लिए कुछ समय, शायद कुछ वरस चाहिए।...जिस तरह हमारी आजादीको जबरदस्ती छीननेवाले अंग्रेजोंकी सियासी हुकूमतको हमने सफलतापूर्वक इस देशसे निकाल दिया, उसी तरह हमारी संस्कृतिको दबानेवाली अंग्रेजी भाषाको भी हमें यहाँसे निकाल बाहर करना चाहिए; हाँ, व्यापार और राजनीतिकी आन्तरराष्ट्रीय भाषाके नाते समृद्ध अंग्रेजीका अपना स्वाभाविक स्थान हमेशा कायम रहेगा।[१३]

मेरी रायमें धार्मिक बातोंमें संस्कृतका उपयोग करना भी छोड़ा नहीं जा सकता। अनुवाद कितना ही शुद्ध क्यों न हो, किन्तु वह मूल मंत्रोंका स्थान नहीं ले सकता। मूल मंत्रोंमें अपनी एक विशेषता है, जो अनुवादमें नहीं आ सकती। इसके सिवा यदि हम इन मंत्रोंको, जिनका पाठ शताब्दियोंतक संस्कृतमें ही होता रहा है, अब अपनी देशी भाषाओंमें दुहराने लगें, तो इससे उनकी गंभीरतामें कमी आयेगी। लेकिन साथही मेरा स्पष्ट मत है कि मंत्रका पाठ और विधिका अनुष्ठान करनेवालेको मंत्रका अर्थ और विधिका तात्पर्य अच्छी तरह समझाया जाना चाहिए। हिन्दू बालककी शिक्षा संस्कृतके प्रारम्भिक ज्ञानके बिना अधूरी मानी जानी चाहिए। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्यका अध्ययन यथेष्ट मात्रामें न चलता रहा तो हिन्दू-धर्मका नाश हो जायगा। मौजूदा शिक्षा-पद्धतिकी कमियोंके कारण ही संस्कृत सीखना कठिन मालूम होता है; असलमें वह कठिन नहीं है। लेकिन कठिन हो तो धर्मका आचरण और ज्यादा कठिन है। इसलिए जो धर्मका आचरण करना चाहता है, उसे अपने मार्गकी तमाम सीढ़ियोंको, फिर वे कितनी भी कठिन क्यों न दिखाई दें, आसान ही समझना चाहिए।[१४]

१३. राष्ट्रभाषा और लिपि

अगर हमें एक राष्ट्र होनेका अपना दावा सिद्ध करना है, तो हमारी अनेक बातें एक-सी होनी चाहिए। भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायोंको एक सूत्रमें बाँधने-वाली हमारी एक सामान्य संस्कृति है। हमारी त्रुटियाँ और बाधाएँ भी एकसी हैं। हमारी पोशाकके लिए एक ही तरहका कपड़ा न केवल वांछनीय है, बल्कि आवश्यक भी है। हमें एक सामान्य भाषाकी भी जरूरत है, देशी (प्रांतीय) भाषाओंकी जगहपर नहीं, परन्तु उनके अलावा। इस बातमें साधारण सहमति है कि यह माध्यम हिन्दुस्तानी ही होना चाहिए, जो हिन्दी और उर्दूके मेलसे बने और जिसमें न तो संस्कृतकी और न फारसी या अरबीकी ही भरमार हो।

हमारे रास्तेकी सबसे बड़ी रुकावट हमारी देशी भाषाओंकी कई लिपियाँ हैं। अगर एक सामान्य लिपि अपनाना संभव हो, तो एक सामान्य भाषाका हमारा जो स्वप्न है—अभी तो वह स्वप्न ही है—उसे पूरा करनेके मार्गकी एक बड़ी बाधा दूर हो जायगी।

भिन्न-भिन्न लिपियोंका होना कई तरहसे बाधक है। वह ज्ञानकी प्राप्तिमें एक कारगर रुकावट है। आर्य भाषाओंमें इतनी समानता है कि अगर भिन्न-भिन्न लिपियाँ सीखनेमें बहुत-सा समय बरबाद न करना पड़े, तो हम सब किसी बड़ी कठिनाईके बिना कई भाषाएँ जान लें। उदाहरणके लिए, जो लोग संस्कृतका थोड़ा भी ज्ञान रखते हैं, उनमेंसे अधिकांशको रवीन्द्रनाथ टैगोरकी अद्वितीय कृतियोंको समझनेमें कोई कठिनाई न हो, अगर वे सब देवनागरी लिपिमें छपें। परन्तु बंगला लिपि मानो गैर-बंगालियोंके लिए 'दूर रहो' की सूचना है। इसी तरह यदि बंगाली लोग देवनागरी लिपि जानते हों, तो वे तुलसीदासकी रचनाओंकी अद्‌भुत सुन्दरता और आध्यात्मिकताका तथा अन्य अनेक हिन्दुस्तानी लेखकोंका आनन्द अनायास लूट सकते हैं।· · ·समस्त भारतके लिए एक सामान्य लिपि एक दूरका आदर्श है, परंतु जो भारतीय संस्कृतसे उत्पन्न भाषाएँ और दक्षिणकी भाषाएँ बोलते हैं, उन सबके लिए एक सामान्य लिपि एक व्यावहारिक आदर्श है, अगर हम सिर्फ अपनी-अपनी प्रान्तीयता छोड़ दें।

उदाहरणके लिए, किसी गुजरातीका गुजराती लिपिसे चिपटे रहना अच्छी बात नहीं है। प्रान्तप्रेम वहाँ अच्छा है, जहाँ वह अखिल भारतीय देशप्रेमकी बड़ी धाराको पुष्ट करता है। इसी प्रकार अखिल भारतीय प्रेम भी उसी हदतक अच्छा है, जहाँतक वह विश्वप्रेमके और भी बड़े लक्ष्यकी पूर्ति करता है। परन्तु जो प्रान्तप्रेम यह कहता है कि "भारत कुछ नहीं, गुजरात ही सर्वस्व है", वह बुरी चीज है।· · ·मैं मानता हूँ कि इस बातका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं कि देवनागरी ही सर्वसामान्य लिपि होनी चाहिए, क्योंकि उसके पक्षमें निर्णायक बात

यह है कि उसे भारतके अधिकांश भागके लोग जानते हैं।··· जो वृत्ति इतनी वर्जनशील और संकीर्ण हो कि हर बोलीको चिरस्थायी बनाना और विकसित करना चाहती हो, वह राष्ट्रविरोधी और विश्व-विरोधी है। ···अगर हमें सुसंस्कृत भारतके लिए एक सामान्य भाषा बनानी हो, तो हमें भाषाओं और लिपियोंकी संख्या बढ़ानेवाली या देशकी शक्तियोंको छिन्न-भिन्न करनेवाली किसी भी क्रियाका बढ़ना रोकना होगा। हमें एक सामान्य भाषाकी वृद्धि करनी होगी।···अगर मेरी चले तो जमी हुई प्रान्तीय लिपिके साथ-साथ मैं सब प्रान्तोंमें देवनागरी लिपि और उर्दू लिपिका सीखना अनिवार्य कर दूँ और विभिन्न देशी भाषाओंकी मुख्य-मुख्य पुस्तकोंको उनके शब्दशः हिन्दुस्तानी अनुवादके साथ देवनागरीमें छपवा दूँ।[१]

हमें (लिपिके साथ-साथ) राष्ट्रभाषाका भी विचार करना चाहिए। यदि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा बननेवाली हो, तो उसे हमारे स्कूलोंमें अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। तो अब हम पहले यह सोचें कि क्या अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है?

कुछ स्वदेशाभिमानी विद्वान् कहते हैं कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो सकती है या नहीं, यह प्रश्न ही अज्ञानताको बताता है। उनकी रायमें अंग्रेजी तो राष्ट्रभाषा बन ही चुकी है।

हमारे पढ़े-लिखे लोगोंकी दशाको देखते हुए ऐसा लगता है कि अंग्रेजीके बिना हमारा कारबार बन्द हो जायगा। ऐसा होनेपर भी जरा गहरे जाकर देखेंगे, तो पता चलेगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा न तो हो सकती है, और न होनी चाहिए।

(पहले) हम यह देखें कि राष्ट्रभाषाके क्या लक्षण होने चाहिए :

(१) वह भाषा सरकारी नौकरोंके लिए आसान होनी चाहिए।
(२) उस भाषाके द्वारा भारतका आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज हो सकना चाहिए।
(३) उस भाषाको भारतके ज्यादातर लोग बोलते हों।
(४) वह भाषा राष्ट्रके लिए आसान हो।
(५) उस भाषाका विचार करते समय क्षणिक या कुछ समयतक रहनेवाली स्थितिपर जोर न दिया जाय।

अंग्रेजी भाषामें इनमेंसे एक भी लक्षण नहीं है।

पहला लक्षण मुझे अन्तमें रखना चाहिए था। परन्तु मैंने उसे पहले इसलिए रखा है कि वह लक्षण अंग्रेजी भाषामें दिखायी पड़ सकता है। ज्यादा सोचनेपर हम देखेंगे कि आज भी राज्यके नौकरोंके लिए वह भाषा आसान नहीं है।···अधिकतर कर्मचारी आज भी भारतीय हैं और वे दिन-दिन बढ़ते ही जायेंगे। यह तो सभी मानेंगे कि इस वर्गके लिए भारतकी किसी भी भाषासे अंग्रेजी ज्यादा कठिन है।

दूसरा लक्षण विचारते समय हम देखते हैं कि जबतक आम लोग अंग्रेजी बोलनेवाले न हो जायँ, तबतक हमारा धार्मिक व्यवहार अंग्रेजीमें नहीं हो सकता। इस हदतक अंग्रेजी भाषाका समाजमें फैल जाना असंभव मालूम होता है।

तीसरा लक्षण अंग्रेजीमें नहीं हो सकता, क्योंकि वह भारतके अधिकतर लोगोंकी भाषा नहीं है।

चौथा लक्षण भी अंग्रेजीमें नहीं है, क्योंकि सारे राष्ट्रके लिए वह इतनी आसान नहीं है।

पाँचवें लक्षणपर विचार करते समय हम देखते हैं कि अंग्रेजी भाषाकी आजकी सत्ता क्षणिक है। सदा बनी रहनेवाली स्थिति तो यह है कि भारतमें जनताके राष्ट्रीय काममें अंग्रेजी भाषाकी जरूरत थोड़ी ही रहेगी। (वैदेशिक)··· कामकाजमें उसकी जरूरत रहेगी। ···हमें अंग्रेजी भाषासे कुछ भी वैर नहीं है। हमारा आग्रह तो इतना ही है कि उसे हदसे बाहर न जाने दिया जाय। राष्ट्रकी भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती।···यह कल्पना ही हमारी कमजोरीको बताती है कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो सकती है।

तो फिर कौनसी भाषा उन पाँच लक्षणोंवाली है? यह माने बिना काम नहीं चल सकता कि हिन्दी भाषामें ये सारे लक्षण मौजूद हैं।

ये पाँच लक्षण रखनेमें हिन्दीसे होड़ करनेवाली और कोई भाषा नहीं है। हिन्दीके बाद दूसरा दर्जा बंगलाका है। फिर भी बंगाली लोग बंगालके बाहर हिन्दीका ही उपयोग करते हैं। हिन्दी बोलनेवाले जहाँ जाते हैं वहाँ हिन्दीका ही उपयोग करते हैं और इससे किसीको अचम्भा नहीं होता। हिन्दीके धर्मोपदेशक और उर्दूके मौलवी सारे भारतमें अपने भाषण हिन्दीमें ही देते हैं और अपढ़ जनता वहाँ उन्हें समझ लेती है। मैंने देखा है कि ठेठ द्रविड़ प्रान्तमें भी हिन्दीकी आवाज सुनायी देती है। यह कहना ठीक नहीं है कि मद्रासमें तो अंग्रेजीसे ही काम चलता है। वहाँ भी मैंने अपना सारा काम हिन्दीसे चलाया है। सैकड़ों मद्रासी मुसाफिरोंको मैंने दूसरे लोगोंके साथ हिन्दीमें बोलते सुना है। इसके सिवा, मद्रासके मुसलमान भाई तो अच्छी तरह हिन्दी बोलना जानते हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि सारे भारतके मुसलमान उर्दू बोलते हैं और उनकी संख्या सारे प्रान्तोंमें कुछ कम नहीं है।

इस तरह हिन्दी भाषा पहलेसे ही राष्ट्रभाषा बन चुकी है। हमने वर्षों पहले उसका राष्ट्रभाषाके रूपमें उपयोग किया है। उर्दू भी हिन्दीकी इस शक्तिसे ही पैदा हुई है।

मुसलमान बादशाह भारतमें फारसी-अरबीको राष्ट्रभाषा नहीं बना सके। उन्होंने हिन्दीके व्याकरणको मानकर उर्दू लिपि काममें ली और फारसी शब्दोंका ज्यादा उपयोग किया। परन्तु आम लोगोंके साथ अपना व्यवहार वे विदेशी भाषाके

द्वारा नहीं चला सके। ···जिन्हें लड़ाकू वर्गोंका अनुभव है, वे जानते हैं कि सैनिकोंके लिए चीजोंके नाम हिन्दी या उर्दूमें रखने पड़ते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। फिर भी मद्रासके पढ़े-लिखोंके लिए यह सवाल कठिन है। लेकिन दक्षिणी, बंगाली, सिंधी और गुजराती लोगोंके लिए तो वह बड़ा आसान है। कुछ महीनोंमें हिन्दीपर अच्छा काबू करके राष्ट्रीय कामकाज उसमें चला सकते हैं। तमिल भाइयोंके बारेमें यह उतना आसान नहीं है। तमिल आदि द्राविड़ी हिस्सोंकी अपनी भाषाएँ हैं और उनकी बनावट और उनका व्याकरण संस्कृतसे अलग है। शब्दोंकी एकताके सिवा और कोई एकता संस्कृत भाषाओं और द्राविड़ भाषाओंमें नहीं पायी जाती।

परन्तु यह कठिनाई सिर्फ आजके पढ़े-लिखे लोगोंके लिए ही है। उनके स्वदेशाभिमानपर भरोसा करने और विशेष प्रयत्न करके हिन्दी सीख लेनेकी आशा रखनेका हमें अधिकार है। भविष्यमें यदि हिन्दीको उसका राष्ट्रभाषाका पद मिले, तो हर मद्रासी स्कूलमें हिन्दी पढ़ाई जायगी और मद्रास तथा दूसरे प्रान्तोंके बीच विशेष परिचय होनेकी संभावना बढ़ जायगी।[२]

मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन द्रविड़ भाई-बहन गंभीर भावसे हिन्दीका अभ्यास करने लग जायेंगे। आज अंग्रेजीपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवाँ हिस्सा भी हिन्दी सीखनेमें करें, तो बाकी हिन्दुस्तानके जो दरवाजे आज उनके लिए बंद हैं, वे खुल जायँ और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जायँ जैसे पहले कभी न थे। मैं जानता हूँ कि इसपर कुछ लोग यह कहेंगे कि यह दलील तो दोनों ओर लागू होती है। द्रविड़ लोगोंकी संख्या कम है; इसलिए राष्ट्रकी शक्तिके मितव्ययकी दृष्टिसे यह जरूरी है कि हिन्दुस्तानके बाकी सब लोगोंको द्रविड़ भारतके साथ बातचीत करनेके लिए तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम सिखानेके बदले द्रविड़ भारतवालोंको शेष हिन्दुस्तानकी आम भाषा सीख लेनी चाहिए।

कोई भी द्रविड़ यह न सोचे कि हिन्दी सीखना जरा भी मुश्किल है। अगर रोजके मनोरंजनके समयमेंसे नियमपूर्वक थोड़ा समय निकाला जाय, तो साधारण आदमी एक सालमें हिन्दी सीख सकता है।···मैं अपने अनुभवसे यह कह सकता हूँ कि द्रविड़ बालक अद्‌भुत सरलतासे हिन्दी सीख लेते हैं। शायद कुछ ही लोग यह जानते होंगे कि दक्षिण अफ्रीकामें रहनेवाले लगभग सभी तमिल-तेलगू-भाषी लोग हिन्दी समझते हैं, और उसमें बातचीत कर सकते हैं।[३] ···जितने साल हम अंग्रेजी सीखनेमें बरबाद करते हैं, उतने महीने भी अगर हम हिन्दुस्तानी सीखनेकी तकलीफ न उठायें, तो सचमुच कहना होगा कि जन-साधारणके प्रति अपने प्रेमकी जो डींगें हम हाँका करते हैं वे निरी डींगें ही हैं।[४]

हिन्दुस्तानकी दूसरी कोई भाषा न सीखनेके बारेमें बंगालका अपना जो पूर्व-

ग्रह है और द्रविड़ लोगोंको हिन्दुस्तानी सीखनेमें जो कठिनाई मालूम होती है, उसकी वजहसे हिन्दुस्तानी न जाननेके कारण शेष हिन्दुस्तानसे अलग पड़ जानेवाले दो प्रान्त हैं---बंगाल और मद्रास। अगर कोई साधारण बंगाली हिन्दुस्तानी सीखनेमें रोज तीन घंटे खर्च करे, तो सचमुच ही दो महीनोंमें वह उसे सीख लेगा; और इसी रफ्तारसे सीखनेमें द्रविड़को छह महीने लगेंगे। कोई बंगाली या द्रविड़ इतने समयमें अंग्रेजी सीख लेनेकी आशा नहीं कर सकता। हिन्दुस्तानी जाननेवालोंके मुकाबले अंग्रेजी जाननेवाले हिन्दुस्तानियोंकी संख्या कम है। अंग्रेजी जाननेसे इन थोड़े लोगोंके साथ ही विचार-विनिमयके द्वार खुलते हैं। इसके विपरीत हिन्दुस्तानीका कामचलाऊ ज्ञान अपने देशके बहुत ही ज्यादा भाई-बहनोंके साथ बातचीत करनेकी शक्ति प्रदान करता है।···मैं द्रविड़ भाइयोंकी कठिनाईको समझता हूँ; लेकिन मातृभूमिके प्रति उनके प्रेम और उद्यमके सामने कोई चीज कठिन नहीं है।[५]

अगर हम बनावटी वातावरणमें न रहते होते, तो दक्षिणवासी लोगोंको न तो हिन्दी सीखनेमें कोई कष्ट मालूम होता, और न उसकी व्यर्थताका अनुभव ही होता। हिन्दी-भाषी लोगोंको दक्षिणकी भाषा सीखनेकी जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालोंको हिन्दी सीखनेकी आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तानमें हिन्दी बोलने और समझनेवालोंकी संख्या दक्षिणकी भाषा बोलनेवालोंसे दुगुनी है। प्रान्तीय भाषा या भाषाओंके बदलेमें नहीं, बल्कि उनके अलावा एक प्रान्तका दूसरे प्रान्तसे सम्बन्ध जोड़नेके लिए एक सर्व-सामान्य भाषाकी आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

कुछ लोग, जो अपने मनसे सर्व-साधारणका खयाल ही भुला देते हैं, अंग्रेजीको हिन्दीकी बराबरीसे चलनेवाली ही नहीं, बल्कि एकमात्र शक्य राष्ट्रभाषा मानते हैं। परदेशी जुएकी मोहिनी न होती, तो इस बातकी कोई कल्पना भी न करता। दक्षिण-भारतकी सर्व-साधारण जनताके लिए, जिसे राष्ट्रीय कार्यमें ज्यादासे ज्यादा हाथ बँटाना होगा, कौनसी भाषा सीखना आसान है---जिस भाषामें अपनी भाषाओंके बहुतेरे शब्द एकसे हैं और जो उन्हें एकदम लगभग सारे उत्तरी हिन्दुस्तानके सम्पर्कमें लाती है वह हिन्दी, या मुट्ठीभर लोगों द्वारा बोली जानेवाली सब तरहसे विदेशी अंग्रेजी ?

इस पसन्दका सच्चा आधार···(हमारी) स्वराज्य-विषयक कल्पनापर निर्भर है। अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलनेवाले भारतीयोंका और उन्हींके लिए हो, तो निस्सन्देह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालोंका, करोड़ों निरक्षरोंका, निरक्षर बहनोंका और दलितों व अन्त्यजोंका हो और इन सबके लिए हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।[६]

मैं हमेशासे यह मानता रहा हूँ कि हम किसी भी हालतमें प्रान्तीय भाषाओं-

को नुकसान पहुँचाना या मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तोंके पारस्परिक सम्बन्धके लिए हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहनेसे हिन्दीके प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिन्दीको हम राष्ट्र-भाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होनेके लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिक संख्यामें लोग जानते-बोलते हों, और जो सीखनेमें सुगम हो।[७]

अंग्रेजी आन्तर-राष्ट्रीय व्यापारकी भाषा है, कूटनीतिकी भाषा है, उसमें अनेक बढ़िया साहित्यिक रत्न भरे हैं और उसके द्वारा हमें पाश्चात्य विचार और संस्कृतिका परिचय होता है। इसलिए हममेंसे कुछ लोगोंके लिए अंग्रेजी जानना जरूरी है। वे राष्ट्रीय व्यापार और आन्तर-राष्ट्रीय कूटनीतिके विभाग चला सकते हैं और राष्ट्रको पश्चिमका उत्तम साहित्य, विचार और विज्ञान दे सकते हैं। यह अंग्रेजीका उचित उपयोग होगा। आजकल तो अंग्रेजीने हमारे हृदयोंमें सबसे प्रिय स्थान जबरदस्ती छीनकर हमारी मातृभाषाओंको सिंहासन-च्युत कर दिया है। अंग्रेजोंके साथ हमारे बराबरीके संबंध न होनेके कारण वह इस अस्वाभाविक स्थानपर बैठ गयी है। अंग्रेजीके ज्ञानके बिना ही भारतीय मस्तिष्क-का उच्चसे उच्च विकास संभव होना चाहिए। हमारे लड़कों और लड़कियोंको यह सोचनेका प्रोत्साहन देना कि अंग्रेजी जाने बिना उत्तम समाजमें प्रवेश करना असंभव है, भारतके पुरुष-समाजके और खास तौरपर नारी-समाजके प्रति हिंसा करना है। यह विचार इतना अपमानजनक है कि सहन नहीं किया जा सकता। अंग्रेजीके मोहसे छुटकारा पाना स्वराज्यके लिए एक जरूरी शर्त है।[८]

अगर हिन्दुस्तानका सचमुच एक राष्ट्र बनाना है, तो··· राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है; क्योंकि जो स्थान हिन्दीको प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा-को कभी नहीं मिल सकता। हिन्दू-मुसलमान दोनोंको मिलाकर करीब बाईस करोड़ मनुष्योंकी भाषा थोड़े-बहुत फेरफारसे हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही है।

इसलिए उचित और संभव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्तमें उस प्रान्तकी भाषा-का, सारे देशके पारस्परिक व्यवहारके लिए हिन्दीका और आन्तर-राष्ट्रीय उपयोगके लिए अंग्रेजीका व्यवहार हो। हिन्दी बोलनेवालोंकी संख्या करोड़ों-की रहेगी, किन्तु अंग्रेजी बोलनेवालोंकी संख्या कुछ लाखसे आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनताके साथ अन्याय करना होगा।[९] ●

१४. सन्तति-नियमन

मैं कृत्रिम उपायोंद्वारा संतति-नियमन करनेके प्रश्नपर··(कहना) चाहता हूँ। आजकल हमारे कानोंमें ढिंढोरा पीट-पीटकर कहा जाता है कि जिस प्रकार कर्ज चुकाना हमारा कर्तव्य है, उसी प्रकार विषय-वासनाकी तृप्ति भी हमारा परम कर्तव्य है। और अगर हम ऐसा न करें तो सजाके रूपमें हमारी बुद्धि

मंद हो जाती है। ऐसा कहा जाता है कि विषय-वासना प्रजोत्पत्तिकी इच्छासे भिन्न है। और कृत्रिम उपायोंके हिमायती कहते हैं कि गर्भाधान तो एक अकस्मात् होनेवाली घटना है और जबतक पति-पत्नीकी इच्छा संतान उत्पन्न करनेकी न हो, तबतक इस घटनाको रोकना चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि इस सिद्धान्त-का उपदेश···करना अत्यन्त भयानक बात है।···अगर विषय-वासनाकी तृप्ति एक कर्तव्य हो, तो अकुदरती मैथुन और वासना-तृप्तिके अनेक दूसरे मार्ग स्तुत्य माने जायेंगे।···इस चीजपर किसी भी तरह प्रतिष्ठाकी मुहर लग गयी, तो लड़कों और लड़कियोंमें समान-लिंगी लोगोंद्वारा वासनाकी तृप्ति कर लेनेकी प्रबल आतुरता जागेगी। मनुष्योंने आजतक अपनी विषय-वासनाकी तृप्तिके लिए जिन उपायोंका सहारा लिया है और जिनके परिणामोंको बहुत ही कम लोग जानते हैं, उनमें और कृत्रिम उपायोंके उपयोगमें मैं बहुत फर्क नहीं करता।[1]

सन्ततिके जन्मको मर्यादित करनेकी आवश्यकताके बारेमें दो मत हो ही नहीं सकते। परन्तु इसका एकमात्र उपाय है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य, जो कि युगोंसे हमें प्राप्त है। यह रामबाण और सर्वोपरि उपाय है और जो इसका सेवन करते हैं उन्हें लाभ ही लाभ होता है। डॉक्टर लोगोंका मानव-जातिपर बड़ा उपकार होगा, यदि वे सन्तति-नियमनके लिए कृत्रिम साधनोंकी तजवीज करनेके बजाय आत्म-संयमके साधन निर्माण करें।

कृत्रिम साधनोंकी सलाह देना मानो बुराईका हौसला बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री दोनों उच्छृंखल हो जाते हैं। और इन कृत्रिम साधनोंको जो प्रतिष्ठा दी जा रही है, उससे उस संयमके ह्रासकी गति बढ़े बिना न रहेगी, जो कि लोकमतके कारण हमपर रहता है। कृत्रिम साधनोंके अवलंबनका कुफल होगा नपुंसकता और क्षीणवीर्यता। यह दवा रोगसे भी ज्यादा बदतर साबित हुए बिना न रहेगी।

अपने कर्मके फलको भोगनेसे दुम दबाना दोष है, अनीतिपूर्ण है। जो शख्स जरूरतसे ज्यादा खा लेता है, उसके लिए यही अच्छा है कि उसके पेटमें दर्द हो और उसे लंघन करना पड़े। जबानको काबूमें न रखकर अनाप-शनाप खा लेना और फिर बलवर्धक या दूसरी दवाइयाँ खाकर उसके नतीजेसे बचना बुरा है। पशुकी तरह विषय-भोगमें गर्क रहकर अपने इस कृत्यके फलसे बचना और भी बुरा है। प्रकृति बड़ी कठोर शासक है। वह अपने कानून-भंगका पूरा बदला बिना आगापीछा देखे चुकाती है। केवल नैतिक संयमके द्वारा ही हमें नैतिक फल मिल सकता है। संयमके दूसरे तमाम साधन अपने हेतुके ही विनाशक सिद्ध होंगे।[2]

विषय-भोग करते हुए भी कृत्रिम उपायोंके द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकनेकी प्रथा पुरानी है। मगर पूर्वकालमें वह गुप्त रूपसे चलती थी। आधुनिक सभ्यताके
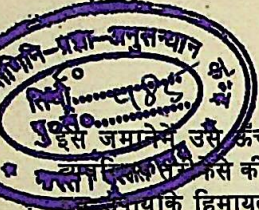
इस जमानेमें उसे ऊँचा स्थान मिल गया है, और कृत्रिम उपायोंकी रचना भी [illegible]से की गयी है। इस प्रथाको परमार्थका जामा पहनाया गया है। इन उपायोंके हिमायती कहते हैं कि भोगेच्छा स्वाभाविक वस्तु है, शायद उसे ईश्वरका वरदान भी कहा जा सकता है। उसे निकाल फेंकना अशक्य है। उस-पर संयमका अंकुश रखना कठिन है। और अगर संयमके सिवा दूसरा कोई उपाय न ढूंढ़ा जाय, तो असंख्य स्त्रियोंके लिए प्रजोत्पत्ति बोझरूप ही जायगी; और भोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा इतनी बढ़ जायगी कि मनुष्य-जातिके लिए पूरी खुराक ही नहीं मिल सकेगी। इन दो आपत्तियोंको रोकनेके लिए कृत्रिम उपायोंकी योजना करना मनुष्यका धर्म हो जाता है।

मुझपर इस दलीलका असर नहीं हुआ है। क्योंकि इन उपायोंके द्वारा मनुष्य अनेक दूसरी मुसीबतें मोल लेता है। मगर सबसे बड़ा नुकसान तो यह है कि कृत्रिम उपायोंके प्रचारसे संयम-धर्मके लोप हो जानेका भय पैदा होगा। इस रत्नको बेचकर चाहे जैसा तात्कालिक लाभ मिले, तो भी यह सौदा करने योग्य नहीं है।[3] ··· कठिनाई आत्म-वंचनासे पैदा होती है। इसमें त्यागका आरम्भ विचार-शुद्धिसे नहीं होता, केवल बाह्याचारको रोकनेके निष्फल प्रयत्नसे होता है। विचारकी दृढ़ताके साथ आचारका संयम शुरू हो, तो सफलता मिले बिना रह ही नहीं सकती। स्त्री-पुरुषकी जोड़ी विषय-सेवनके लिए हरगिज नहीं बनी है।[3] ···कामेच्छा एक सुन्दर और उदात्त वस्तु है। इसमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं। परन्तु वह केवल सृजन-कार्यके लिए ही बनायी गयी है। उसका और कोई उपयोग करना ईश्वर और मानवताके प्रति पाप है।[4]

···कृत्रिम उपायोंका उपयोग करनेवालोंसे संयमकी आशा रखना व्यर्थ है। काम-वासनाका संयम असंभव है, यह मानकर ही तो संतति-नियमनका प्रचार होता है। जननेन्द्रियके संयमको असंभव, अनावश्यक और हानिकारक मानना मेरे खयालसे धर्मको न मानने जैसा है, क्योंकि धर्मकी सारी रचना संयमकी नींव-पर खड़ी है।[5]

मुझे मालूम है कि गुप्त पापने पाठशालाके लड़के-लड़कियोंका कैसा भयंकर विनाश किया है। विज्ञानके नामपर कृत्रिम साधनोंके प्रचलित होने और समाजके प्रसिद्ध नेताओंकी उसपर मुहर लग जानेसे समस्या और बढ़ गयी है; और जो सुधारक सामाजिक जीवनकी शुद्धिका काम करते हैं, उनका कार्य आज असंभव-सा हो गया है! मैं पाठकोंको यह सूचना देते हुए कोई विश्वासघात नहीं कर रहा हूं कि ऐसी कुंआरी लड़कियाँ हैं, जिनपर आसानीसे किसी भी बातका प्रभाव पड़ सकता है और जो स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़ती हैं, परन्तु जो बड़ी उत्सुकतासे संतति-निग्रहके साहित्य और पत्रिकाओंका अध्ययन करती हैं और जिनके पास उसके साधन भी मौजूद हैं। इन साधनोंके प्रयोगको विवाहित स्त्रियोंतक सीमित
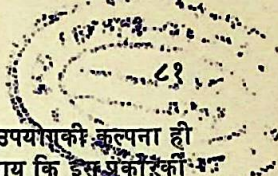
रखना असंभव है। जब विवाहके उद्देश्य और उच्चतम उपयोगकी कल्पना ही पाशविक विकारकी तृप्ति हो और यह विचारतक न किया जाय कि इस प्रकारकी तृप्तिका कुदरती नतीजा क्या होगा, तब विवाहकी सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है।

मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि जो विद्वान् पुरुष और स्त्रियाँ मिशनरी उत्साहके साथ कृत्रिम साधनोंके पक्षमें आन्दोलन कर रहे हैं, वे देशके युवकोंकी अपार हानि कर रहे हैं। उनका यह विश्वास झूठा है कि ऐसा करके वे उन गरीब स्त्रियोंको संकटसे बचा लेंगे, जिन्हें अपनी इच्छाके विरुद्ध मजबूरन् बच्चे पैदा करने पड़ते हैं। जिन्हें बच्चोंकी संख्या मर्यादित करनेकी जरूरत है, उनके पास तो इनकी आसानीसे पहुँच नहीं होगी। हमारी गरीब औरतोंके पास न तो वह ज्ञान होता है और न वह तालीम होती है, जो पश्चिमी स्त्रियोंके पास होती है। अवश्य ही यह आन्दोलन (केवल) मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंके लिए नहीं किया जा रहा है, क्योंकि उन्हें इस ज्ञानकी उतनी जरूरत नहीं है जितनी निर्धन वर्गोंकी स्त्रियोंको है।

परन्तु सबसे बड़ी हानि, जो यह आन्दोलन कर रहा है, यह है कि पुराना आदर्श छोड़कर यह उसके स्थानपर एक ऐसा आदर्श स्थापित कर रहा है, जिसपर अमल हुआ तो मानव-जातिका नैतिक और शारीरिक विनाश निश्चित है। वीर्य-के व्यर्थ व्ययको प्राचीन साहित्यमें जो इतना भयंकर कृत्य माना गया है, वह कोई अज्ञानजन्य अंधविश्वास नहीं था। कोई किसान अगर अपने पासका बढ़ियासे बढ़िया बीज पथरीली जमीनमें बोये या कोई खेतका मालिक बढ़िया जमीनवाले अपने खेतमें ऐसी परिस्थितियोंमें अच्छा बीज डाले जिनमें उसका उगना असंभव हो, तो उसके लिए क्या कहा जायगा? भगवान्ने पुरुषको ऊँचीसे ऊँची शक्ति-वाला बीज प्रदान किया है और स्त्रीको ऐसा खेत दिया है जिसके बराबर उपजाऊ धरती इस दुनियामें और कहीं नहीं है। अवश्य ही पुरुषकी यह भयंकर मूर्खता है कि वह अपनी इस सबसे कीमती संपत्तिको व्यर्थ जाने देता है। उसे अपने अत्यन्त मूल्यवान् जवाहरात और मोतियोंसे भी अधिक सावधानीके साथ इसकी रक्षा करनी चाहिए। इस तरह वह स्त्री भी अक्षम्य मूर्खता करती है, जो अपने जीवो-त्पादक क्षेत्रमें बीजको नष्ट होने देनेके इरादेसे ही ग्रहण करती है। वे दोनों ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभाके दुरुपयोगके अपराधी माने जायँगे और जो चीज उन्हें दी गयी है, वह उनसे छीन ली जायगी।··· सन्तति-निग्रहके कृत्रिम साधन पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। परन्तु पहले उन्हें काममें लेना पाप समझा जाता था। पापको पुण्य कहकर उसका गौरव बढ़ाना हमारी पीढ़ीके ही भाग्यमें बदा है। मेरे खयालसे कृत्रिम साधनोंके हिमायती भारतके युवकोंकी सबसे बड़ी कुसेवा यह कर रहे हैं कि उनके दिमागोंमें वे गलत विचारधारा भर रहे हैं। भारतके

युवा स्त्री-पुरुषोंको, जिनके हाथमें देशका भाग्य है, इस झूठे देवतासे सावधान रहना चाहिएँ, ईश्वरने उन्हें जो खजाना दिया है, उसकी रक्षा करनी चाहिए और इच्छा हो तो उसका उसी काममें उपयोग करना चाहिए जिसके लिए वह बनाया गया है।[५]

मैं यह नहीं मानता कि स्त्री काम-विकारकी उतनी ही शिकार बनती है, जितना पुरुष। पुरुषके बनिस्वत स्त्रीके लिए आत्म-संयम पालना ज्यादा आसान होता है। मैं मानता हूँ कि इस देशमें स्त्रीको दी जाने लायक सही शिक्षा यह होगी कि उसे अपने पतिको भी 'नहीं' कहनेकी कला सिखायी जाय; उसे यह सिखाया जाय कि पतिके हाथोंमें केवल विषय-भोगका साधन या गुड़िया बनकर रहना उसका कर्तव्य बिलकुल नहीं है। यदि स्त्रीके कर्तव्य हैं तो उसके अधिकार भी हैं।

पहली बात है उसे मानसिक गुलामीसे मुक्त करना, उसे अपने शरीरको पवित्र माननेकी शिक्षा देना और राष्ट्र तथा मानव-जातिकी सेवाकी प्रतिष्ठा और गौरव सिखाना। यह मान लेना अनुचित होगा कि भारतकी स्त्रियाँ इस गुलामीसे कभी छूट ही नहीं सकतीं और इसलिए प्रजोत्पत्तिको रोकने तथा अपनी बची-खुची तन्दुरुस्तीकी रक्षा करनेके लिए उन्हें कृत्रिम साधनोंका उपयोग सिखाने-के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

जिन बहनोंका पुण्य-प्रकोप ऐसी स्त्रियोंके कष्टोंको देखकर जिन्हें इच्छा या अनिच्छासे बच्चे पैदा करने पड़ते हैं—जाग्रत हुआ है, वे उतावली न बनें। कृत्रिम साधनोंके पक्षमें किया जानेवाला प्रचार भी वांछित हेतुको एक दिनमें सिद्ध नहीं कर देगा। हर पद्धतिके लिए लोगोंको शिक्षा देना जरूरी होगा। मेरा कहना इतना ही है कि यह शिक्षा सही रास्ते ले जानेवाली होनी चाहिए।[७]

लोगोंपर वन्ध्यीकरण (वह क्रिया जिससे पुरुषके वीर्यमें निहित प्रजनन-शक्तिका नाश कर दिया जाता है) का कानून लादनेको मैं अमानुषिक मानता हूँ। परन्तु जो व्यक्ति पुराने रोगोंके मरीज हों, वे यदि स्वीकार कर लें तो उनका वन्ध्यीकरण वांछनीय होगा। वन्ध्यीकरण (भी) एक प्रकारका कृत्रिम साधन है। यद्यपि मैं स्त्रियोंके सम्बन्धमें कृत्रिम साधनोंके उपयोगके खिलाफ हूँ, फिर भी मैं पुरुषके सम्बन्धमें स्वेच्छासे किये जानेवाले वन्ध्यीकरणके खिलाफ नहीं हूँ, क्योंकि पुरुष आक्रामक है।[८]

यदि यह कहा जाय कि जनसंख्याकी अतिवृद्धिके कारण कृत्रिम साधनोंद्वारा सन्तति-नियमनकी राष्ट्रके लिए आवश्यकता है, तो मुझे इस बातमें पूरा शक है। यह बात अबतक साबित ही नहीं की गयी है। मेरी रायमें तो यदि जमीन-सम्बन्धी कानूनोंमें समुचित सुधार कर दिया जाय, खेतीकी दशा सुधारी जाय और एक सहायक धन्धेकी तजवीज कर दी जाय, तो हमारा यह देश अपनी जनसंख्यासे दूने लोगोंका भरण-पोषण कर सकता है।[९]

हमारा यह छोटासा पृथ्वी-मंडल कुछ समयका बना हुआ खिलौना नहीं है। अनगिनत युगोंसे यह ऐसा ही चला आ रहा है। जनसंख्याकी वृद्धिके भारसे उसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया। तब कुछ लोगोंके मनमें एकाएक इस सत्यका उदय कहाँसे हो गया कि यदि सन्तति-नियमनके कृत्रिम साधनोंसे जन-संख्याकी वृद्धिको रोका न गया, तो अन्न न मिलनेसे पृथ्वी-मंडलका नाश हो जायगा।[१०]

बढ़ती हुई जनसंख्याका हौवा कोई नयी चीज नहीं है। अकसर वह हमारे सामने खड़ा किया गया है। जनसंख्याकी वृद्धि कोई टालने लायक संकट नहीं है; न होना चाहिए। (बल्कि) उसे कृत्रिम उपायोंसे रोकना एक महान् संकट है, फिर चाहे हम उसे जानते हों या न जानते हों। अगर कृत्रिम उपायोंका उपयोग आम तौरपर होने लगे, तो वह समूचे राष्ट्रको पतनकी ओर ले जायगा।... एक ओर हम विषय-भोगसे पैदा होनेवाली अनचाही सन्ततिका पाप अपने सिर ओढ़ते हैं, और दूसरी ओर ईश्वर उस पापको मिटानेके लिए हमें अनाजकी तंगी, महामारी और लड़ाईके जरिये सजा करता है। अगर इस तिहरे पापसे बचना हो, तो संयम-रूपी कारगर उपायके जरिये अनचाही सन्ततिको रोकना चाहिए। देखनेवालोंको आज भी यह दिखायी पड़ता है कि कृत्रिम उपायोंके कैसे बुरे नतीजे होते हैं। नीतिकी चर्चामें पड़े बिना मैं यही कहना चाहता हूँ कि कुत्ते-बिल्लीकी तरह होनेवाली इस सन्तान-वृद्धिको जरूर रोकना चाहिए। लेकिन इस बातका खयाल रखना होगा कि ऐसा करनेसे उसका ज्यादा बुरा नतीजा न निकले। इस बढ़ती हुई प्रजोत्पत्तिको ऐसे उपायोंसे रोकना चाहिए जिनसे जनता ऊपर उठे; यानी इसके लिए जनताको उसके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली तालीम मिलनी चाहिए, जिससे एक शापके मिटते ही दूसरे सब शाप अपने-आप मिट जायँ। यह सोचकर कि रास्ता पहाड़ी है और उसमें चढ़ाइयाँ हैं, उससे दूर नहीं भागना चाहिए। मनुष्यकी प्रगतिका मार्ग कठिनाइयोंसे भरा पड़ा है। उनसे डरना क्या? उनका तो स्वागत करना चाहिए।[११]

१५. शराबखोरी और छुआछूत

यदि मुझे एक घंटेके लिए भारतका डिक्टेटर बना दिया जाय, तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराबकी दूकानोंको बिना मुआवजा दिये बंद करवा दिया जाय और कारखानोंके मालिकोंको अपने मजदूरोंके लिए मनुष्योचित परिस्थितियाँ निर्माण करने तथा उनके हितमें ऐसे उपाहार-गृह और मनोरंजन-गृह खोलनेके लिए मजबूर किया जाय, जहाँ मजदूरोंको ताजगी देनेवाले निर्दोष पेय और उतने ही निर्दोष मनोरंजन प्राप्त हो सकें।[१]

आपको ऊपरसे ठीक दिखायी देनेवाली इस दलीलके भुलावेमें नहीं आना चाहिए कि शराबबन्दी जोर-जबरदस्तीके आधारपर नहीं होनी चाहिए और जो लोग शराब पीना चाहते हैं उन्हें उसकी सुविधाएँ मिलनी ही चाहिए। राज्यका यह कोई कर्तव्य नहीं है कि वह अपनी प्रजाकी कुटेवोंके लिए अपनी ओरसे सुविधाएँ दे। हम वेश्यालयोंको अपना व्यापार चलानेके लिए अनुमति-पत्र नहीं देते। इसी तरह हम चोरोंको अपनी चोरीकी प्रवृत्ति पूरी करनेकी सुविधाएँ नहीं देते। मैं शराबको चोरी और व्यभिचार, दोनोंसे ज्यादा निंद्य मानता हूँ। क्या वह अकसर इन दोनों बुराइयोंकी जननी नहीं होती?[२]

शराबकी लत कुटेव तो है ही, लेकिन कुटेवसे भी ज्यादा वह एक बीमारी है। मैं ऐसे बीसियों आदमियोंको जानता हूँ जो यदि वे छोड़ सकें तो शराब पीना बड़ी खुशीसे छोड़ दें। मैं ऐसे भी कुछ लोगोंको जानता हूँ, जिन्होंने यह कहा है कि शराब उनके सामने न लायी जाय। और जब उनके कहनेके अनुसार शराब उनके सामने नहीं लायी गयी, तो मैंने उन्हें लाचार होकर शराबकी चोरी करते हुए देखा है। लेकिन इसलिए मैं यह नहीं मानता कि शराब उनके पाससे हटा लेना गलत था। बीमारोंको अपने-आपसे यानी अपनी अनुचित इच्छाओंसे लड़नेमें हमें मदद देनी ही चाहिए।[३]

शराबकी आदत मनुष्यकी आत्माका नाश कर देती है। और उसे धीरे-धीरे पशु बना डालती है, जो पत्नी, माँ और बहनमें भेद करना भूल जाता है।[४]... शराब और अन्य मादक द्रव्योंसे होनेवाली हानि कई अंशोंमें मलेरिया आदि बीमारियोंसे होनेवाली हानिकी अपेक्षा असंख्य-गुनी ज्यादा है। कारण, बीमारियोंसे तो केवल शरीरको हानि पहुँचती है जब कि शराब आदिसे शरीर और आत्मा, दोनोंका नाश हो जाता है।[५]

मैं भारतका गरीब होना पसन्द करूँगा, लेकिन मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि हमारे हजारों लोग शराबी हों। अगर भारतमें शराबबन्दी जारी करनेके लिए लोगोंको शिक्षा देना बन्द करना पड़े तो कोई परवाह नहीं; मैं यह कीमत चुकाकर भी शराबखोरी बन्द करूँगा।[६]...

...जो राष्ट्र शराबकी आदतका शिकार है, कहना चाहिए कि उसके सामने विनाश मुँह बाये खड़ा है। इतिहासमें इस बातके कितने ही प्रमाण हैं कि इस बुराईके कारण कई साम्राज्य मिट्टीमें मिल गये हैं। प्राचीन भारतीय इतिहासमें, हम जानते हैं कि वह पराक्रमी जाति जिसमें श्रीकृष्णने जन्म लिया था, इसी बुराईके कारण नष्ट हो गयी। रोम-साम्राज्यके पतनका एक सहायक कारण निस्सन्देह यह बुराई ही थी।[७]

शराबकी तरह बीड़ी और सिगरेटके लिए भी मेरे मनमें गहरा तिरस्कार है। बीड़ी और सिगरेटको मैं कुटेव ही मानता हूँ। वह मनुष्यकी विवेक-बुद्धिको जड़

बना देती है और अकसर शराबसे ज्यादा बुरी सिद्ध होती है, क्योंकि उसका परिणाम अप्रत्यक्ष रीतिसे होता है। यह आदत आदमीको एक बार लग भर जाय, फिर उससे पिंड छुड़ाना बहुत कठिन होता है। इसके सिवा वह खर्चीली भी है। वह मुँहको दुर्गन्ध-युक्त बनाती है, दाँतोंका रंग बिगाड़ती है और कभी-कभी कैंसर जैसी भयानक बीमारीको जन्म देती है। वह एक गंदी आदत है।[८]...

...एक दृष्टिसे बीड़ी और सिगरेट पीना शराबसे भी ज्यादा बड़ी बुराई है, क्योंकि इस व्यसनका शिकार उससे होनेवाली हानिको समय रहते अनुभव नहीं करता। वह जंगलीपन चिह्न नहीं मानी जाती, बल्कि सभ्य लोग तो उसका गुणगान भी करते हैं।[९]

हिन्दुस्तानमें (तो) हम लोग तम्बाकू केवल पीते ही नहीं, सूँघते भी हैं और जरदेके रूपमें खाते भी हैं।...आरोग्यका पुजारी दृढ़ निश्चय करके सब व्यसनोंकी गुलामीसे छूट जायगा। बहुतोंको इसमेंसे एक या दो या तीनों व्यसन लगे होते हैं। इसलिए उन्हें इससे घृणा नहीं होती। मगर शान्त चित्तसे विचार किया जाय तो तम्बाकू फूँकनेकी क्रियासे या लगभग सारा दिन जरदे या पानके बीड़ेसे गाल भर रखनेमें या नसवारकी डिबिया खोलकर सूँघते रहनेमें कोई शोभा नहीं है। ये तीनों व्यसन गंदे हैं।[१०]

अस्पृश्यताका कलंक

आजकल हिन्दू-धर्ममें जो अस्पृश्यता देखनेमें आती है, वह उसका एक अमिट कलंक है। म यह माननेसे इनकार करता हूँ कि वह हमारे समाजमें स्मरणातीत कालसे चली आयी है। मेरा खयाल है कि अस्पृश्यताकी यह घृणित भावना हम लोगोंमें तब आयी होगी, जब हम अपने पतनकी चरम सीमापर रहे होंगे। और तबसे यह बुराई हमारे साथ लग गयी और आज भी लगी हुई है। मैं मानता हूँ कि यह एक भयंकर अभिशाप है। और यह अभिशाप जबतक हमारे साथ रहेगा, तबतक मुझे लगता है कि इस पावन भूमिमें हमें जब जो भी तकलीफ सहनी पड़े, वह हमारे इस अपराधका, जिसे हम आज भी कर रहे हैं, उचित दण्ड होगी।[११]

मेरी रायमें हिन्दू-धर्ममें दिखायी पड़नेवाला अस्पृश्यताका वर्तमान रूप ईश्वर और मनुष्यके खिलाफ किया गया भयंकर अपराध है और इसलिए वह एक ऐसा विष है जो धीरे-धीरे हिन्दू-धर्मके प्राणको ही निःशेष किये दे रहा है। मेरी रायमें शास्त्रोंमें, यदि हम सब शास्त्रोंको मिलाकर पढ़ें तो, इस बुराईका कहीं कोई समर्थन नहीं है। शास्त्रोंमें एक तरहकी हितकारी अस्पृश्यताका विधान जरूर है, लेकिन उस तरहकी अस्पृश्यता सब धर्मोंमें पायी जाती है। वह अस्पृश्यता तो स्वच्छताके नियमका ही एक अंग है। वह तो सदा रहेगी। लेकिन भारतमें हम आज जैसी अस्पृश्यता देख रहे हैं, वह एक भयंकर चीज है और उसके हरएक प्रान्तमें,

यहाँतक कि हरएक जिलेमें, अलग-अलग कितने ही रूप हैं। उसने अस्पृश्यों और स्पृश्यों दोनोंको नीचे गिराया है। उसने करोड़ों मनुष्योंका विकास रोक रखा है; उन्हें जीवनकी सामान्य सुविधाएँ भी नहीं दी जातीं। इसलिए इस बुराईको जितनी जल्दी निर्मूल कर दिया जाय, उतना ही हिन्दू-धर्म, भारत और शायद समग्र मानव-जातिके लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।[१२]

यदि हम भारतकी आबादीके पाँचवें हिस्सेको स्थायी गुलामीकी हालतमें रखना चाहते हैं और उन्हें जान-बूझकर राष्ट्रीय संस्कृतिके फलोंसे वंचित रखना चाहते हैं, तो स्वराज्य एक अर्थहीन शब्दमात्र होगा। आत्मशुद्धिके इस महान् आन्दोलन*में (तो) हम भगवान्की मददकी आकांक्षा रखते हैं, लेकिन उसकी प्रजाके सबसे ज्यादा सुपात्र अंशको हम मानवताके अधिकारोंसे वंचित रखते हैं। यदि हम स्वयं मानवीय दयासे शून्य हैं, तो उसके सिंहासनके निकट दूसरोंकी निष्ठुरतासे मुक्ति पानेकी याचना हम नहीं कर सकते।[१३]

इस बातसे कभी किसीने इनकार नहीं किया कि अस्पृश्यता एक पुरानी प्रथा है। लेकिन यदि वह एक अनिष्ट वस्तु है, तो उसकी प्राचीनताके आधारपर उसका बचाव नहीं किया जा सकता। यदि अस्पृश्य लोग आर्योंके समाजके बाहर हैं, तो इसमें उस समाजकी ही हानि है। और यदि कहा जाय कि आर्यों-ने अपनी प्रगति-यात्रामें किसी मंजिलपर किसी वर्ग-विशेषको दण्डके तौरपर समाजसे बहिष्कृत कर दिया था, तो उनके पूर्वजोंको किसी भी कारणसे दण्डित किया गया हो, परन्तु वह दण्ड उस वर्गकी सन्तानको देते रहनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अस्पृश्य लोग भी आपसमें अस्पृश्यताका जो पालन करते हैं, उससे इतना ही सिद्ध होता है कि किसी अनिष्ट वस्तुको सीमित नहीं रखा जा सकता और उसका घातक प्रभाव सर्वत्र फैल जाता है। अस्पृश्योंमें भी अस्पृश्यताका होना इस बातके लिए एक अतिरिक्त कारण है कि सुसंस्कृत हिन्दू-समाजको इस अभिशापसे जल्दीसे जल्दी मुक्त हो जाना चाहिए। यदि अस्पृश्योंको अस्पृश्य इसलिए माना जाता है कि वे जानवरोंको मारते हैं और मांस, रक्त, हड्डियाँ और मैला आदि छूते हैं, तब तो हरएक नर्स और डॉक्टरको भी अस्पृश्य माना जाना चाहिए; और इसी तरह मुसलमानों, ईसाइयों और तथाकथित ऊँचे वर्गों-के उन हिन्दुओंको भी अस्पृश्य माना जाना चाहिए, जो आहार अथवा बलिके लिए जानवरोंकी हत्या करते हैं। कसाईखाने, शराबकी दूकानें, वेश्यालय आदि बस्तीसे अलग होते हैं या होने चाहिए, इसलिए अस्पृश्योंको भी समाजसे दूर और अलग रखा जाना चाहिए—यह दलील अस्पृश्योंके खिलाफ लोगोंके मनमें चले आ रहे उत्कट पूर्वग्रहको ही बताती है। कसाईखाने और ताड़ी-

---

* स्वतंत्रता-संग्राम —सं०

शरावकी दूकानें आदि जरूर वस्तीसे दूर तथा अलग होते हैं और होने चाहिए। लेकिन कसाइयों और ताड़ी अथवा शरावके विक्रेताओंको शेष समाजसे अलग नहीं रखा जाता।[१४]

हम आन्तरिक प्रलोभनों तथा मोहमें लिप्त हैं और अत्यंत अस्पृश्य और पापपूर्ण विचारोंके प्रवाह हमारे मनमें चलते हैं और उसे कलुषित करते हैं। हमें समझना चाहिए कि हमारी कसौटी हो रही है। ऐसी स्थितिमें हम अभिमानके आवेशमें अपने उन भाइयोंके स्पर्शके प्रभावके बारेमें, जिन्हें हम अकसर अज्ञान-वश और ज्यादातर तो दुरभिमानके कारण अपनेसे नीचा समझते हैं, अत्युक्ति न करें। भगवान्‌के दरवारमें हमारी अच्छाई-बुराईका निर्णय इस वातसे नहीं किया जायगा कि हम क्या खाते-पीते रहे हैं या कि हमें किस-किसने छुआ है; उसका निर्णय तो इस आधारपर किया जायगा कि हमने किन-किनकी सेवा की है और किस तरह की है। यदि हमने एक भी दीन-दु:खी आदमीकी सेवा की होगी, तो हमें भगवान्‌की कृपादृष्टि प्राप्त होगी।... अमुक वस्तुएँ न खानेकी वातका उपयोग हम कपट-जाल, पाखण्ड और उससे भी अधिक पापपूर्ण कार्योंको छिपाने-के लिए नहीं कर सकते। इस आशंकासे कि कहीं उनका स्पर्श हमारी आध्यात्मिक उन्नतिमें वाधक न हो, हम किसी पतित अथवा गंदी रहन-सहनवाले भाई-वहनकी सेवासे इनकार नहीं कर सकते।[१५]

जिस समाजमें भंगीका अलग पेशा माना गया है, वहाँ कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे तो वरसोंसे लगता रहा है। इस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढ़ानेवाले कामको सबसे नीच काम पहले-पहल किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने भी माना, उसने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं, यह भावना हमारे मनमें बचपनसे ही जम जानी चाहिए; और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो समझ गये हैं वे शरीर-श्रमका आरम्भ पाखाना-सफाईसे करें। जो समझ-बूझकर ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह उसी क्षणसे धर्मको निराले ढंगसे और सही तरीकेसे समझने लगेगा।[१६]

१६. वर्णाश्रम और जाति-व्यवस्था

मैं ऐसा मानता हूँ कि हरएक आदमी दुनियामें कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है। इसी तरह हरएक आदमीकी कुछ निश्चित सीमाएँ होती है, जिन्हें जीतना उसके लिए शक्य नहीं होता। इन सीमाओंके ही अध्ययन और अवलोकनसे वर्णका नियम निष्पन्न हुआ है। वह अमुक प्रवृत्तियोंवाले अमुक लोगोंके लिए अलग-अलग कार्यक्षेत्रोंकी स्थापना करता है। ऐसा करके उसने समाजमेंसे अनुचित प्रतिस्पर्धाको टाला है। वर्णका नियम आदमियोंकी अपनी स्वाभाविक सीमाएँ तो मानता है, लेकिन वह उनमें ऊँचे और नीचेका भेद नहीं मानता।

एक ओर तो वह ऐसी व्यवस्था करता है कि हरएकको उसके परिश्रमका फल अवश्य मिल जाय, और दूसरी ओर वह उसे अपने पड़ोसियोंपर भाररूप बननेसे रोकता है। यह ऊँचा नियम आज गिर गया है और निंदाका पात्र बन गया है। लेकिन मेरा विश्वास है कि आदर्श समाज-व्यवस्थाका विकास तभी किया जा सकेगा, जब इस नियमके रहस्योंको पूरी तरह समझा जायगा और उन्हें कार्यान्वित किया जायगा।[1]

वर्णाश्रम-धर्म बताता है कि दुनियामें मनुष्यका सच्चा लक्ष्य क्या है। उसका जन्म इसलिए नहीं हुआ है कि वह रोज-रोज ज्यादा पैसा इकट्ठा करनेके रास्ते खोजे और जीविकाके नये-नये साधनोंकी खोज करे। उसका जन्म तो इसलिए हुआ है कि वह अपनी शक्तिका प्रत्येक अणु अपने निर्माताको जाननेमें लगाये। इसलिए वर्णाश्रम-धर्म कहता है कि अपने शरीरके निर्वाहके लिए मनुष्य अपने पूर्वजोंका ही धन्धा करे। बस, वर्णाश्रम-धर्मका आशय इतना ही है।[2]

जातपाँतके बारेमें मैंने बहुत बार कहा है कि आजके अर्थमें मैं जात-पाँतको नहीं मानता। यह समाज का 'फालतू अंग' है और तरक्कीके रास्तेमें रुकावट जैसा है। इसी तरह आदमी-आदमीके बीच ऊँच-नीचका भेद भी मैं नहीं मानता। हम सब पूरी तरह बराबर हैं। लेकिन बराबरी आत्माकी है, शरीरकी नहीं। इसलिए यह मानसिक अवस्थाकी बात है। बराबरीका विचार करनेकी और उसे जोर देकर जाहिर करनेकी जरूरत पड़ती है, क्योंकि दुनियामें ऊँच-नीचके भारी भेद दिखायी देते हैं। इस बाहरसे दीखनेवाले ऊँच-नीचपनमेंसे हमें बराबरी पैदा करनी है। कोई भी मनुष्य अपनेको दूसरेसे ऊँचा मानता है, तो वह ईश्वर और मनुष्य दोनोंके सामने पाप करता है। इस तरह जातपाँत जिस हदतक दरजेका फर्क जाहिर करती है, उस हदतक वह बुरी चीज है।

लेकिन वर्णको मैं अवश्य मानता हूँ। वर्णकी रचना पीढ़ी-दर-पीढ़ीके धंधोंकी बुनियादपर हुई है। मनुष्यके चार धंधे सार्वत्रिक हैं—विद्यादान करना, दुःखीको बचाना, खेती तथा व्यापार और शरीरकी मेहनतसे सेवा। इन्हींको चलानेके लिए चार वर्ण बनाये गये हैं। ये धंधे सारी मानव-जातिके लिए समान हैं, पर हिन्दू-धर्ममें उन्हें जीवन-धर्म करार देकर उनका उपयोग समाजके संबंधों और आचार-व्यवहारको नियमनमें लानेके लिए किया है। गुरुत्वाकर्षणके कानूनको हम जानें या न जानें, उसका असर तो हम सभीपर होता है। लेकिन वैज्ञानिकोंने उसके भीतरसे ऐसी बातें निकाली हैं, जो दुनियाको चौंकानेवाली हैं। इसी तरह हिन्दू-धर्मने वर्ण-धर्मकी तलाश करके और उसका प्रयोग करके दुनियाको चौंकाया है। जब हिन्दू अज्ञानके शिकार हो गये, तब वर्णके अनुचित उपयोगके कारण अनगिनत जातियाँ बनीं और रोटी-बेटी-व्यवहारके अनावश्यक और हानिकारक बन्धन पैदा हो गये। वर्ण-धर्मका इन पाबन्दियोंके साथ कोई नाता

नहीं है। अलग-अलग वर्णके लोग आपसमें रोटी-बेटी-व्यवहार रख सकते हैं। चरित्र और तन्दुरुस्तीके खातिर ये बन्धन जरूरी हो सकते हैं। लेकिन जो ब्राह्मण शूद्रकी लड़कीसे या शूद्र ब्राह्मणकी लड़कीसे ब्याह करता है, वह वर्णधर्मको नहीं मिटाता।[3]

वर्णाश्रममें आन्तर-जातीय विवाहों या खान-पानका निषेध नहीं है, लेकिन इसमें कोई जोर-जबरदस्ती भी नहीं हो सकती। व्यक्तिको इस बातका निश्चय करनेकी पूरी छूट मिलनी चाहिए कि वह कहाँ शादी करेगा और कहाँ खायगा।[4]

अस्पृश्यताकी बुराईसे खीझकर वर्ण-व्यवस्थाका ही नाश करना उतना ही गलत होगा, जितना कि शरीरमें कोई कुरूप-वृद्धि हो जाय तो शरीरका या फसलमें ज्यादा घास-पात उगा हुआ दिखे तो फसलका ही नाश कर डालना। इसलिए अस्पृश्यताका नाश तो जरूर करना है। सम्पूर्ण जाति (वर्ण) व्यवस्थाको बचाना हो तो समाजमें बढ़ी हुई इस हानिकारक बुराईको दूर करना ही होगा। अस्पृश्यता जाति-व्यवस्थाकी उपज नहीं है, बल्कि उस ऊँच-नीच-भेदकी भावनाका परिणाम है, जो हिन्दू-धर्ममें घुस गयी है और उसे भीतर-ही-भीतर कुतर रही है। इसलिए अस्पृश्यताके खिलाफ हमारा आक्रमण इस ऊँच-नीचकी भावनाके खिलाफ ही है। ज्यों ही अस्पृश्यता नष्ट होगी, जाति-व्यवस्था स्वयं शुद्ध हो जायगी; यानी मेरे सपनेके अनुसार वह चार वर्णोंवाली सच्ची वर्ण-व्यवस्थाका रूप ले लेगी। ये चारों वर्ण एक-दूसरेके पूरक और सहायक होंगे, उनमेंसे कोई किसीसे छोटा-बड़ा नहीं होगा; प्रत्येक वर्ण हिन्दू-धर्मके शरीरके पोषणके लिए समान रूपसे आवश्यक होगा।[5]

आर्थिक दृष्टिसे जातिप्रथाका किसी समय बहुत मूल्य था। उसके फलस्वरूप नयी पीढ़ियोंको उनके परिवारोंमें चले आये परम्परागत कला-कौशलकी शिक्षा सहज ही मिल जाती थी और स्पर्धाका क्षेत्र सीमित बनता था। गरीबी और कंगालीसे होनेवाली तकलीफको दूर करनेका वह एक उत्तम इलाज थी। और पश्चिममें प्रचलित व्यापारियोंके संघोंकी संस्थाके सारे लाभ उसमें भी मिलते थे। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वह साहस और आविष्कारकी वृत्तिको बढ़ावा नहीं देती थी, लेकिन हम जानते हैं कि वह उनके आड़े भी नहीं आती थी।

इतिहासकी दृष्टिसे जातिप्रथाको भारतीय समाजकी प्रयोगशालामें किया गया मनुष्यका ऐसा प्रयोग कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य समाजके विविध वर्गोंका पारस्परिक अनुकूलन और संयोजन था। यदि हम उसे सफल बना सकें तो दुनियामें आजकल लोभके कारण जो क्रूर प्रतिस्पर्धा और सामाजिक विघटन होता दिखायी देता है, उसके उत्तम इलाजकी तरह उसे दुनियाको भेंटमें दिया जा सकता है।[6]

१७. स्त्री-शक्ति

अहिंसाकी नींवपर रचे गये जीवनकी योजनामें जितना और जैसा अधिकार पुरुषको अपने भविष्यकी रचनाका है, उतना और वैसा ही अधिकार स्त्रीको भी अपना भविष्य तय करनेका है। लेकिन अहिंसक समाजकी व्यवस्थामें जो अधिकार मिलते हैं, वे किसी-न-किसी कर्तव्य या धर्मके पालनसे प्राप्त होते हैं। इसलिए यह भी मानना चाहिए कि सामाजिक आचार-व्यवहारके नियम स्त्री और पुरुष दोनों आपसमें मिलकर और राजी-खुशीसे तय करें। इन नियमोंका पालन करनेके लिए बाहरकी किसी सत्ता या हुकूमतकी जबरदस्ती काम न देगी। स्त्रियोंके साथ अपने व्यवहार और बरतावमें पुरुषोंने इस सत्यको पूरी तरह पहचाना नहीं है। स्त्रीको अपना मित्र या साथी माननेके बदले पुरुषने अपनेको उसका स्वामी माना है।...पुराने जमानेका गुलाम नहीं जानता था कि उसे आजाद होना है, या कि वह आजाद हो सकता है। औरतोंकी हालत भी आज कुछ ऐसी ही है। जब उस गुलामको आजादी मिली तो कुछ समयतक उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो उसका सहारा ही जाता रहा। औरतोंको यह सिखाया गया है कि वे अपनेको पुरुषोंकी दासी समझें। इसलिए हमारा यह फर्ज है कि स्त्रियोंको उनकी मौलिक स्थितिका पूरा बोध करायें और उन्हें इस तरहकी तालीम दें, जिससे वे जीवनमें पुरुषोंके साथ बराबरीके दरजेसे हाथ बँटाने लायक बनें।

एक बार मनका निश्चय हो जानेके बाद इस क्रान्तिका काम आसान है। इसलिए इसकी शुरुआत अपने घरसे करें। अपनी पत्नियोंको मन बहलानेकी गुड़िया या भोग-विलासका साधन माननेके बदले उनको सेवाके समान कार्यमे अपना सम्मान्य साथी समझें। इसके लिए जिन स्त्रियोंको स्कूल या कॉलेजकी शिक्षा नहीं मिली है, वे अपने पतियोंसे जितना बन पड़े सीखें। जो बात पत्नियों-के लिए कही है, वही जरूरी परिवर्तनके साथ माताओं और बेटियोंके लिए भी समझनी चाहिए।

यह कहनेकी जरूरत नहीं कि हिन्दुस्तानकी स्त्रियोंकी लाचारीका यह एक-तरफा चित्र ही मैंने यहाँ दिया है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि गाँवोंमें औरतें अपने मर्दोंके साथ बराबरीसे टक्कर लेती हैं; कुछ मामलोंमें वे उनसे बढ़ी-चढ़ी हैं और उनपर हुकूमत भी चलाती हैं। लेकिन हमें बाहरसे देखनेवाला कोई भी तटस्थ आदमी यह कहेगा कि (कुल मिलाकर) हमारे समूचे समाजमें कानून और रूढ़िकी रूसे औरतोंको जो दरजा मिला है, उसमें कई खामियाँ हैं और उन्हें जड़मूलसे सुधारनेकी जरूरत है। ...जिस रूढ़ि और कानूनके बनानेमें स्त्रीका कोई हाथ नहीं था और जिसके लिए सिर्फ पुरुष ही जिम्मेदार है, उस कानून और रूढ़िके जुल्मोंने स्त्रीको लगातार कुचला है।[1]

कानूनकी रचना ज्यादातर पुरुषोंद्वारा हुई है। और इस कामको करनेमें, जिसे करनेका जिम्मा मनुष्यने अपने ऊपर खुद ही उठा लिया है, उसने हमेशा न्याय और विवेकका पालन नहीं किया है। स्त्रियोंमें नये जीवनका संचार करनेके हमारे प्रयत्नका अधिकांश भाग उन दूषणोंको दूर करनेमें खर्च होना चाहिए, जिनका हमारे शास्त्रोंने स्त्रियोंके जन्मजात और अनिवार्य लक्षण कहकर वर्णन किया है। इस कामको कौन करेगा और कैसे करेगा? मेरी नम्र रायमें इस प्रयत्नकी सिद्धिके लिए हमें सीता, दमयन्ती और द्रौपदी जैसी पवित्र और दृढ़ता तथा संयम आदि गुणोंसे युक्त स्त्रियाँ प्रकट करनी होंगी। यदि हम अपने बीच-में ऐसी स्त्रियाँ प्रकट कर सकें, तो इन आधुनिक देवियोंको वही मान्यता मिलेगी जो अभीतक शास्त्रोंको प्राप्त है। उस हालतमें हमारी स्मृतियोंमें स्त्री-जातिके सम्बन्धमें यहाँ-वहाँ जो असम्मान-सूचक उक्तियाँ मिलती हैं, उनपर हम लज्जित होंगे। ऐसी क्रान्तियाँ हिन्दू-धर्ममें प्राचीन कालमें हो चुकी हैं और भविष्यमें भी होंगी और वे हमारे धर्मको ज्यादा स्थायी बनायेंगी।[२]

स्त्री पुरुषकी साथिन है, जिसकी बौद्धिक क्षमताएँ पुरुषकी वैसी ही क्षम-ताओंसे किसी तरह कम नहीं हैं। पुरुषकी प्रवृत्तियोंमें, उन प्रवृत्तियोंके प्रत्येक अंग और उपांगमें भाग लेनेका उसे अधिकार है; और आजादी तथा स्वाधीनता-का उसे उतना ही अधिकार है जितना पुरुषको। जिस तरह पुरुष अपनी प्रवृत्तिके क्षेत्रमें सर्वोच्च स्थानका अधिकारी माना गया है, उसी तरह स्त्री भी अपनी प्रवृत्तिके क्षेत्रमें मानी जानी चाहिए। स्त्रियाँ पढ़ना-लिखना सीखें और उसके परिणामस्वरूप यह स्थिति आये, ऐसा नहीं... । यह तो हमारी सामाजिक व्यवस्था-की सहज अवस्था ही होनी चाहिए। महज एक दूषित रूढ़ि और रिवाजके कारण बिलकुल ही मूर्ख और नालायक पुरुष भी स्त्रियोंसे बड़े माने जाते हैं, यद्यपि वे इस बड़प्पनके पात्र नहीं होते और न वह उन्हें मिलना चाहिए। हमारे कई आन्दो-लनोंकी प्रगति हमारे स्त्री-समाजकी पिछड़ी हुई हालतके कारण बीचमें ही रुक जाती है। इस तरह हमारे किये हुए कामका जैसा और जितना फल आना चाहिए, वैसा और उतना नहीं आता। हमारी दशा उस कंजूस व्यापारीके जैसी है, जो अपने व्यापारमें पर्याप्त पूँजी नहीं लगाता और इसलिए नुकसान उठाता है।[३]

स्त्रियोंके अधिकारोंके सवालपर मैं किसी तरहका समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। मेरी रायमें उनपर ऐसा कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए, जो पुरुषोंपर न लगाया गया हो। पुत्रों और कन्याओंमें किसी तरहका भेद नहीं होना चाहिए। उनके साथ पूरी समानताका व्यवहार होना चाहिए।[४]

(लेकिन) पुरुष और स्त्रीकी समानताका यह अर्थ नहीं (है) कि वे समान धन्धे भी करें। स्त्रीके शस्त्र धारण करने या शिकार करनेके खिलाफ कोई कानूनी बाधा (तो) नहीं होनी चाहिए। लेकिन जो काम पुरुषके करनेके हैं, उनसे वह

स्वभावतः विरत होगी। प्रकृतिने स्त्री और पुरुषको एक-दूसरेके पूरकके रूपमें सिरजा है। जिस तरह उनके आकारमें भेद है, उसी तरह उनके कार्य भी मर्यादित हैं।'

स्त्री और पुरुष समान दरजेके हैं, परन्तु एक नहीं; उनकी अनोखी जोड़ी है। वे एक-दूसरेकी कमी पूरी करनेवाले हैं और दोनों एक-दूसरेका सहारा हैं। यहाँतक कि एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। किन्तु यह सिद्धान्त ऊपरकी स्थितिमेंसे ही निकल आता है कि पुरुष या स्त्री कोई एक अपनी जगहसे गिर जाय तो दोनोंका नाश हो जाता है। इसलिए स्त्री-शिक्षाकी योजना बनानेवालोंको यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। दम्पतीके बाहरी कामोंमें पुरुष सर्वोपरि है। बाहरी कामोंका विशेष ज्ञान उसके लिए जरूरी है। भीतरी कामोंमें स्त्रीकी प्रधानता है। इसलिए गृह-व्यवस्था, बच्चोंकी देखभाल, उनकी शिक्षा वगैराके बारेमें स्त्रीको विशेष ज्ञान होना चाहिए। यहाँ किसीको कोई भी ज्ञान प्राप्त करनेसे रोकनेकी कल्पना नहीं है। किन्तु शिक्षाका क्रम इन विचारोंको ध्यानमें रखकर न बनाया गया हो, तो स्त्री-पुरुष दोनोंको अपने-अपने क्षेत्रमें पूर्णता प्राप्त करनेका मौका नहीं मिलता।

मुझे ऐसा लगा है कि हमारी मामूली पढ़ाईमें स्त्री या पुरुष किसीके लिए भी अंग्रेजी जरूरी नहीं है। कमाईके खातिर या राजनीतिक कामोंके लिए ही पुरुषोंको अंग्रेजी भाषा जाननेकी जरूरत हो सकती है। मैं नहीं मानता कि स्त्रियोंको नौकरी ढूँढ़ने या व्यापार करनेकी झंझटमें पड़ना चाहिए। इसलिए अंग्रेजी भाषा थोड़ी ही स्त्रियाँ सीखेंगी। और जिन्हें सीखना होगा वे पुरुषोंके लिए खोली हुई शालाओंमें ही सीख सकेंगी। स्त्रियोंके लिए खोली हुई शालामें अंग्रेजी जारी करना हमारी गुलामीकी उमर बढ़ानेका कारण बन जायगा। यह वाक्य मैंने बहुतोंके मुँहसे सुना है और बहुत जगह सुना है कि अंग्रेजी भाषामें भरा हुआ खजाना पुरुषोंकी तरह स्त्रियोंको भी मिलना चाहिए। मैं नम्रताके साथ कहूँगा कि इसमें कहीं न कहीं भूल है। यह तो कोई नहीं कहता कि पुरुषोंको अंग्रेजीका खजाना दिया जाय और स्त्रियोंको न दिया जाय।

जिसे साहित्यका शौक है वह अगर सारी दुनियाका साहित्य समझना चाहे, तो उसे रोककर रखनेवाला इस दुनियामें कोई पैदा नहीं हुआ है। परन्तु जहाँ आम लोगोंकी जरूरतें समझकर शिक्षाका क्रम तैयार किया गया हो, वहाँ ऊपर बताये हुए साहित्य-प्रेमियोंके लिए योजना तैयार नहीं की जा सकती। स्त्री या पुरुषको अंग्रेजी भाषा सीखनेमें अपना समय नहीं लगाना चाहिए। यह बात मैं उनका आनन्द कम करनेके लिए नहीं कहता, बल्कि इसलिए कहता हूँ कि जो आनन्द अंग्रेजी शिक्षा पानेवाले बड़े कष्टसे लेते हैं, वह हमें आसानीसे मिले। पृथ्वी अमूल्य रत्नोंसे भरी है। सारे साहित्य-रत्न अंग्रेजी भाषामें ही नहीं हैं।

दूसरी भाषाएँ भी रत्नोंसे भरी हैं। मुझे ये सारे रत्न आम जनताके लिए चाहिए। ऐसा करनेके लिए एक ही उपाय है और वह यह कि हममेंसे कुछ ऐसी शक्ति-वाले लोग वे भाषाएँ सीखें और उनके रत्न हमें अपनी भाषामें दें।[६]

मैं स्त्रियोंकी समुचित शिक्षाका हिमायती हूँ, लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि स्त्री दुनियाकी प्रगतिमें अपना योग पुरुषकी नकल करके या उसकी प्रतिस्पर्धा करके नहीं दे सकती। वह चाहे तो प्रतिस्पर्धा कर सकती है। लेकिन पुरुषकी नकल करके वह उस ऊँचाईतक नहीं उठ सकती, जिस ऊँचाईतक उठना उसके लिए सम्भव है। उसे पुरुषकी पूरक बनना चाहिए।[७]

यह (दहेजकी) प्रथा नष्ट होनी चाहिए। विवाह लड़के-लड़कीके माता-पिताओं द्वारा पैसे ले-देकर किया हुआ सौदा नही होना चाहिए। इस प्रथाका जातिप्रथासे गहरा सम्बन्ध है। जबतक (शादीके लिए) चुनावका क्षेत्र अमुक जातिके इने-गिने लड़कों या लड़कियोंतक ही मर्यादित रहेगा, तबतक यह प्रथा भी रहेगी, भले उसके खिलाफ जो भी कहा जाय। यदि इस बुराईका उच्छेद करना हो तो लड़कियोंको या लड़कोंको या उनके माता-पिताओंको जातिके बन्धन तोड़ने पड़ेंगे। इस सबका मतलब यह है कि चरित्रकी ऐसी तालीमकी जरूरत है, जो देशके युवकों और युवतियोंके मानसमें आमूल परिवर्तन कर दे।[८]

कोई भी युवक, जो दहेजको विवाहकी शर्त बनाता है, अपनी शिक्षाको कलंकित करता है, अपने देशको कलंकित करता है और नारी-जातिका अपमान करता है। देशमें आजकल बहुतेरे युवक-आन्दोलन चल रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि ये आन्दोलन इस किस्मके सवालोंको अपने हाथमें लें। ऐसे संघटनोंको किसी ठोस सुधार-कार्यका प्रतिनिधि होना चाहिए और यह सुधार-कार्य उन्हें अपने अन्दरसे ही शुरू करना चाहिए।... दहेजकी इस नीचे गिरानेवाली प्रथाके खिलाफ बलवान् लोकमत पैदा करना चाहिए; और जो युवक इस पापके सोनेसे अपने हाथ गंदे करते हैं, उनका समाजसे बहिष्कार किया जाना चाहिए। लड़कियोंके माता-पिताओंको अंग्रेजी डिग्रियोंका मोह छोड़ देना चाहिए, और अपनी कन्याओं-के लिए सच्चे और स्त्री-जातिके प्रति सम्मानकी भावना रखनेवाले सुयोग्य वरोंकी खोजमें अपनी जाति या प्रान्तके भी तंग दायरेके बाहर जानेमें संकोच नहीं करना चाहिए।[९]

१८. मजदूर क्या करें?

भारतके सामने आज दो रास्ते हैं: वह चाहे तो पश्चिमके 'शक्ति ही अधिकार है' वाले सिद्धान्तको अपनाये और चलाये या पूर्वके इस सिद्धान्तपर दृढ़ रहे और उसीकी विजयके लिए अपनी सारी ताकत लगाये कि 'सत्यकी ही जीत होती है'; सत्यमें हार कभी है ही नहीं; और ताकतवर तथा कमजोर,

दोनोंको न्याय पानेका समान अधिकार है। यह चुनाव सबसे पहले मजदूर-वर्गको करना है। क्या मजदूरोंको अपने वेतनमें वृद्धि, यदि वैसा सम्भव हो तो भी, हिंसा-का आश्रय लेकर करानी चाहिए? उनके दावे कितने भी उचित क्यों न हों, उन्हें हिंसाका आश्रय नहीं लेना चाहिए। अधिकार प्राप्त करनेके लिए हिंसाका आश्रय लेना शायद आसान मालूम हो, किन्तु यह रास्ता अन्तमें काँटोंवाला सिद्ध होता है। जो लोग तलवारके द्वारा जीवित रहते हैं, वे तलवारसे ही मरते हैं। तैराक अक्सर डूबकर मरता है। यूरोपकी ओर देखिये। वहाँ कोई भी सुखी नहीं दिखायी देता, क्योंकि किसीको भी संतोष नहीं है। मजदूर पूंजीपतिका विश्वास नहीं करता और पूंजीपतिको मजदूरमें विश्वास नहीं है। दोनोंमें एक प्रकारकी स्फूर्ति और ताकत है, लेकिन वह तो बैलोंमें भी होती है। बैल भी मरनेकी हदतक लड़ते हैं। कैसी भी गति प्रगति नहीं है। हमारे पास यह माननेका कोई कारण नहीं है कि यूरोपके लोग प्रगति कर रहे ह। उनके पास जो पैसा है, उससे यह सूचित नहीं होता कि उनमें कोई नैतिक या आध्यात्मिक सद्गुण है। दुर्योधन असीम धनका स्वामी था, लेकिन विदुर या सुदामाकी तुलनामें वह गरीब ही था। आज दुनिया विदुर और सुदामाकी पूजा करती है; लेकिन दुर्योधनका नाम तो उन सब बुराइयोंके प्रतीकके रूपमें ही याद किया जाता है, जिनसे आदमीको बचना चाहिए।

…पूंजी और श्रममें चल रहे संघर्षके बारेमें आमतौरपर यह कहा जा सकता है कि गलती अकसर पूंजीपतियोंसे ही होती है। लेकिन जब मजदूरोंको अपनी ताकतका पूरा भान हो जायगा, तब मैं जानता हूँ कि वे लोग पूंजीपतियोंसे भी ज्यादा अत्याचार कर सकते हैं। यदि मजदूर मिल-मालिकोंकी बुद्धि हासिल कर लें, तो मिल-मालिकोंको मजदूरोंकी दी हुई शर्तोंपर काम करना पड़ेगा। …अगर वे वैसी बुद्धि प्राप्त कर लें तो मजदूर मजदूर ही न रहें और मालिक बन जायँ। पूंजीपति केवल पूंजीकी ताकतपर नहीं लड़ते; उनके पास बुद्धि और कौशल भी है।

हमारे सामने सवाल यह है: मजदूरोंमें, उनके मजदूर रहते हुए, अपनी शक्ति और अधिकारोंकी चेतना आ जाये, उस समय उन्हें किस मार्गका अवलम्बन करना चाहिए? अगर उस समय मजदूर अपनी संख्याके बलका यानी पशुशक्तिका आश्रय लें, तो यह उनके लिए आत्म-घातक सिद्ध होगा। ऐसा करके वे देशके उद्योगोंको हानि पहुँचायेंगे। दूसरी ओर यदि वे शुद्ध न्यायका आधार लेकर लड़ें और उसे पानेके लिए खुद कष्ट-सहन करें, तो वे अपनी हर कोशिशमें न सिर्फ सफल होंगे, बल्कि अपने मालिकोंके हृदयका परिवर्तन कर डालेंगे, उद्योगोंका ज्यादा विकास करेंगे और अन्तमें मालिक और मजदूर, दोनों एक ही परिवारके सदस्योंकी भाँति रहने लगेंगे।

मजदूरोंकी हालतके संतोषजनक सुधारमें निम्नलिखित वस्तुओंका समावेश होना चाहिए :

१. श्रमका समय इतना ही होना चाहिए कि मजदूरोंको आराम करनेके लिए भी काफी समय बचा रहे।

२. उन्हें अपने शिक्षणकी सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

३. उनके बच्चोंकी आवश्यक शिक्षाके लिए तथा वस्त्र और पर्याप्त दूधके लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।

४. मजदूरोंके लिए साफ-सुथरे घर होने चाहिए।

५. उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बुढ़ापेमें अपने निर्वाहके लिए काफी रकम बचा सकें।

अभी तो इनमेंसे एक भी शर्त पूरी नहीं होती। इस हालतके लिए दोनों ही पक्ष जिम्मेदार हैं। मालिक लोग केवल कामकी परवाह करते हैं। मजदूरोंका क्या होता है, उससे वे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनकी सारी कोशिशोंका मकसद यही होता है कि पैसा कम-से-कम देना पड़े और काम ज्यादा-से-ज्यादा मिले। दूसरी ओर, मजदूरकी कोशिश ऐसी सब युक्तियाँ करनेकी होती है जिससे पैसा उसे ज्यादा-से-ज्यादा मिले और काम कम-से-कम करना पड़े। परिणाम यह होता है कि यद्यपि मजदूरोंके वेतनमें वृद्धि होती है, परन्तु कामकी मात्रामें कोई सुधार नहीं होता। दोनों पक्षोंके सम्बन्ध शुद्ध नहीं बनते और मजदूर लोग अपनी वेतन-वृद्धिका समुचित उपयोग नहीं करते।

इन दोनों पक्षोंके बीचमें एक तीसरा पक्ष खड़ा हो गया है। वह मजदूरोंका मित्र बन गया है। ऐसे पक्षकी आवश्यकतासे इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह पक्ष मजदूरोंके प्रति अपनी मित्रताका निर्वाह उसी हदतक कर सकेगा, जिस हदतक उनके प्रति उसकी मित्रता स्वार्थसे अछूती होगी।

अब वह समय आ पहुँचा है जब कि मजदूरोंका उपयोग कई तरहसे शतरंजके प्यादोंकी तरह करनेकी कोशिशें की जायेंगी। जो लोग राजनीतिमें भाग लेनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस सवालपर विचार करना चाहिए। वे लोग क्या चुनेंगे : अपना हित या मजदूरोंकी और राष्ट्रकी सेवा? मजदूरोंको मित्रोंकी बड़ी आवश्यकता है। वे नेतृत्वके बिना कुछ नहीं कर सकते। देखना यह है कि यह नेतृत्व उन्हें किस किस्मके लोगोंसे मिलता है; क्योंकि उससे ही मजदूरोंकी भावी परिस्थितियोंका निर्धारण होनेवाला है।[१]

…और देशोंकी तरह भारतमें भी मजदूर-जगत् उन लोगोंकी दयापर निर्भर है, जो सलाहकार और पथदर्शक बन जाते हैं। ये लोग सदा सिद्धान्त-पालक नहीं होते और सिद्धान्त-पालक होते भी हैं तो हमेशा बुद्धिमान् नहीं होते। मजदूरोंको अपनी हालतपर असंतोष है। असंतोषके लिए उनके पास पूरे कारण हैं। उन्हें यह सिखाया

जा रहा है, और ठीक सिखाया जा रहा है कि अपने मालिकोंको धनवान् बनानेका मुख्य साधन वे ही हैं। राजनीतिक स्थिति भी भारतके मजदूरोंको प्रभावित करने लगी है। और ऐसे मजदूर-नेताओंका अभाव नहीं है, जो समझते हैं कि राजनीतिक हेतुओंके लिए हड़तालें करायी जा सकती हैं।

मेरी रायमें ऐसे हेतुके लिए मजदूर-हड़तालोंका उपयोग करना अत्यंत गंभीर भूल होगी। मैं इससे इनकार नहीं करता कि ऐसी हड़तालोंसे राजनीतिक गरज पूरी की जा सकती है। परन्तु वे अहिंसक असहयोगकी योजनामें नहीं आतीं। यह समझनेके लिए बुद्धिपर बहुत जोर डालनेकी जरूरत नहीं है कि जबतक मजदूर देशकी राजनीतिक स्थितिको समझ न लें और सबकी भलाईके लिए काम करनेको तैयार न हों, तबतक मजदूरोंका राजनीतिक उपयोग करना बहुत ही खतरनाक बात होगी। इस व्यवहारकी उनसे अचानक आशा रखना कठिन है। यह आशा उस वक्ततक नहीं रखी जा सकती, जबतक वे अपनी खुदकी हालत इतनी अच्छी न बना लें कि शरीर और आत्माकी जरूरतें पूरी करके सभ्य और शिष्ट जीवन व्यतीत कर सकें।[२]

मजदूर अपनी स्थिति सुधार लें, अधिक जानकार हो जायँ, अपने अधिकारोंका आग्रह रखें और जिस मालके तैयार करनेमें उनका जितना महत्त्वपूर्ण हाथ होता है उसके उचित उपयोगकी भी मालिकोंसे माँग करें।...मजदूरोंके लिए सही विकास यही होगा कि वे अपना दरजा बढ़ायें और आंशिक मालिकोंका दरजा प्राप्त करें।

अभी तो हड़तालें मजदूरोंकी हालतके सीधे सुधारके लिए ही होनी चाहिए और जब उनमें देशभक्तिकी भावना पैदा हो जाय, तब अपने तैयार किये हुए मालकी कीमतोंके नियंत्रणके लिए भी हड़ताल की जा सकती है।

सफल हड़तालोंकी शर्तें सीधी-सादी हैं और जब वे पूरी हो जाती हैं तो हड़तालें कभी असफल सिद्ध होनी ही नहीं चाहिए :

१. हड़तालका कारण न्यायपूर्ण होना चाहिए।

२. हड़तालियोंमें व्यावहारिक एकमत होना चाहिए।

३. हड़ताल न करनेवालोंके विरुद्ध हिंसा काममें नहीं लेनी चाहिए।

४. हड़तालियोंमें यह शक्ति होनी चाहिए कि संघके कोषका आश्रय लिये बिना वे हड़तालके दिनोंमें अपना पालन-पोषण कर सकें। इसके लिए उन्हें किसी उपयोगी और उत्पादक अस्थायी धंधेमें लगना चाहिए।

५. जब हड़तालियोंकी जगह लेनेके लिए दूसरे मजदूर काफी हों, तब हड़तालका उपाय बेकार साबित होता है। उस सूरतमें अन्यायपूर्ण व्यवहार हो, नाकाफी मजदूरी मिले या ऐसा ही और कोई कारण हो, तो त्यागपत्र ही उसका एकमात्र उपाय है।

६. उपर्युक्त सारी शर्तें पूरी न होनेपर भी सफल हड़तालें हुई हैं। परन्तु

इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि मालिक कमजोर थे और उनका अन्तःकरण अपराधी था।[३]

जाहिर है कि बिना वजनदार कारणके हड़ताल होनी ही न चाहिए। नाजायज हड़तालको न तो कामयावी हासिल होनी चाहिए और न ही किसी हालतमें उसे आम जनताकी हमदर्दी मिलनी चाहिए। आमतौरपर लोगोंको यह मालूम ही नहीं हो सकता कि हड़ताल जायज है या नाजायज, सिवा इसके कि हड़तालका समर्थन कोई ऐसे लोग करें, जो निष्पक्ष हों और जिनपर आम लोगोंका विश्वास हो। हड़ताली खुद अपने मामलेंमें राय देनेके हकदार नहीं हैं। इसलिए या तो मामला ऐसे पंचके सिपुर्द करना चाहिए, जो दोनों तरफके लोगोंको मंजूर हो, या उसे अदालती फैसलेपर छोड़ना चाहिए।…

जव इस तरीकेसे काम किया जाता है, तो आमतौरपर पब्लिकके सामने हड़तालका मामला पेश करनेकी नौबत ही नहीं आती। अलबत्ता, कभी-कभी यह जरूर होता है कि मगरूर मालिक पंचके या अदालतके फैसलेको ठुकरा देते हैं, या गुमराह मजदूर अपनी ताकतके वल मालिकसे जबरदस्ती और भी रिआयतें पानेके लिए फैसलेको मंजूर करनेसे इनकार कर देते हैं। ऐसी हालतमें मामला आम जनताके सामने आता है।

…जो हड़ताल माली हालतकी वेहतरीके लिए की जाती है, उसमें कभी अंतिम ध्येयके तौरपर राजनीतिक मकसदकी मिलावट नहीं होनी चाहिए। ऐसा करनेसे राजनीतिक तरक्की कभी नहीं हो सकती। बल्कि होता यह है कि अकसर हड़तालियोंको ही इसका नतीजा भुगतना पड़ता है, चाहे उन हड़तालोंका असर आम लोगोंकी जिन्दगीपर पड़े या न पड़े। सरकारके सामने कुछ दिक्कतें जरूर खड़ी हो सकती हैं, लेकिन उनकी वजहसे हुकूमतका काम रुक नहीं सकता।… असल मुसीबत तो गरीबोंको झेलनी पड़ती है। ऐसी हड़तालें तो तभी करनी चाहिए, जब इन्साफ करानेके दूसरे सब उचित साधन असफल साबित हो चुके हों।…

राजनीतिक हड़तालोंकी अपनी अलग जगह है और उनको आर्थिक हड़तालोंके साथ न तो मिलाना चाहिए और न दोनोंका आपसमें वैसा कोई रिश्ता रखा जाना चाहिए। अहिंसक लड़ाईमें राजनीतिक हड़तालकी अपनी एक खास जगह होती है। वे चाहे जब और चाहे जैसे ढंगसे नहीं की जानी चाहिए। ऐसी हड़तालें बिलकुल खुली होनी चाहिए और उनमें गुण्डाशाहीकी कोई गुंजाइश न रहनी चाहिए। उनकी वजहसे कहीं किसी तरहकी हिंसा नहीं होनी चाहिए।[४]

काम छोड़कर वैठ जाना, हड़तालें आदि वेशक वहुत प्रभावशाली साधन हैं, लेकिन उनका दुरुपयोग आसान है। मजदूरोंको अपने शक्तिशाली यूनियन बनाकर अपना संघटन कर लेना चाहिए और इन यूनियनोंकी सहमतिके बिना कभी भी

कोई हड़ताल नहीं करनी चाहिए। हड़ताल करनेके पहले मिल-मालिकोंसे बातचीतके द्वारा समझौतेकी कोशिश होनी चाहिए; उसके बिना हड़तालका खतरा मोल लेना ठीक नहीं। यदि मिल-मालिक झगड़ेके निपटारेके लिए पंच-फैसलेका आश्रय लें, तो पंचायतकी बात जरूर स्वीकार की जानी चाहिए। और पंचोंकी नियुक्ति हो जानेके बाद दोनों पक्षोंको उसका निर्णय समान रूपसे जरूर मान लेना चाहिए, भले उन्हें वह पसंद आया हो या नहीं।[५]

मेरा सर्वत्र यही अनुभव रहा है कि सामान्यतः मालिककी तुलनामें मजदूर लोग अपने कर्तव्य ज्यादा ईमानदारीके साथ और ज्यादा परिणामकारी ढंगसे पूरे करते हैं, यद्यपि जिस तरह मालिकके प्रति मजदूरोंके कर्तव्य होते हैं, उसी तरह मजदूरोंके प्रति मालिकके भी कर्तव्य होते हैं। और यही कारण है कि मजदूरोंको इस बातकी खोज करना आवश्यक हो जाता है कि वे मालिकोंसे अपनी माँग किस हदतक मनवा सकते हैं। अगर हम यह देखें कि हमें काफी वेतन नहीं मिलता या कि हमें निवासकी जैसी सुविधा चाहिए, वैसी नहीं मिल रही है, तो हमें काफी वेतन और समुचित निवासकी सुविधा कैसे मिले, इस बातका रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है। मजदूरोंको कितनी सुख-सुविधा चाहिए, इस बातका निश्चय कौन करे? सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि तुम मजदूर लोग खुद यह समझो कि तुम्हारे अधिकार क्या हैं, उन अधिकारोंको मालिकोंसे मनवानेका उपाय क्या है और फिर उन्हें उन लोगोंसे तुम खुद ही हासिल करो। लेकिन इसके लिए तुम्हारे पास पहलेसे ली हुई थोड़ी-सी तालीम होनी चाहिए--शिक्षा होनी चाहिए।

मेरी नम्र रायमें यदि मजदूरोंमें काफी संगठन हो और बलिदानकी भावना भी हो, तो उन्हें अपने प्रयत्नोंमें हमेशा सफलता मिल सकती है। पूँजीपति कितने ही अत्याचारी हों, मुझे निश्चय है कि जिनका मजदूरोंसे सम्बन्ध है और जो मजदूर-आन्दोलनका मार्गदर्शन करते हैं, खुद उन्हें ही अभी इस बातकी कल्पना नहीं है कि मजदूरोंकी साधन-सम्पत्ति कितनी विशाल है। उनकी साधन-सम्पत्ति सचमुच इतनी विशाल है कि पूँजीपतियोंकी उतनी कभी हो ही नहीं सकती। अगर मजदूर इस बातको पूरी तरह समझ लें कि पूँजी श्रमका सहारा पाये बिना कुछ नहीं कर सकती, तो उन्हें अपना उचित स्थान तुरंत ही प्राप्त हो जायगा।[६]

दुर्भाग्यवश हमारा मन पूँजीकी मोहिनीसे मूढ़ हो गया है और हम यह मानने लगे हैं कि दुनियामें पूँजी ही सब कुछ है। लेकिन यदि हम गहरा विचार करें तो क्षणमात्रमें हमें यह पता चल जायगा कि मजदूरोंके पास जो पूँजी है वह पूँजीपतियोंके पास कभी हो ही नहीं सकती। ...अंग्रेजीमें एक बहुत जोरदार शब्द है--यह शब्द दुनियाकी दूसरी भाषाओंमें भी है। यह है 'नहीं'। बस, हमने अपनी सफलताके लिए यही रहस्य खोज निकाला है कि जब पूँजीपति मजदूरोंसे 'हाँ' कहलवाना चाहते हों उस समय यदि मजदूर 'हाँ' न कहकर 'नहीं' कहनेकी इच्छा

रखते हों तो उन्हें निस्संकोच 'नहीं' का ही गर्जन करना चाहिए। ऐसा करनेपर मजदूरोंको तुरन्त ही इस बातका ज्ञान हो जायगा कि उन्हें यह आजादी है कि जब वे 'हाँ' कहना चाहें तब 'हाँ' कहें और जब 'नहीं' कहना चाहें तब 'नहीं' कह दें; और यह कि वे पूँजीके अधीन नहीं हैं बल्कि पूँजीको ही उन्हें खुश रखना है। पूँजीके पास बंदूक और तोप और यहाँतक कि जहरीले गैस जैसे डरावने अस्त्र भी हैं, तो भी इस स्थितिमें कोई फर्क नहीं पड़ सकता। अगर मजदूर अपनी 'नहीं' की टेक कायम रखें, तो पूँजी अपने उन सब शस्त्रास्त्रोंके बावजूद पूरी तरह असहाय सिद्ध होगी। उस हालतमें मजदूर प्रत्याक्रमण नहीं करेंगे, बल्कि गोलियों और जहरीले गैसकी मार सहते हुए भी झुकेंगे नहीं और अपनी 'नहीं' की टेकपर अडिग रहेंगे। मजदूर अपने प्रयत्नमें अकसर असफल होते हैं, उसका कारण यह है कि वे जैसा मैंने कहा है वैसा करके पूँजीका शोधन नहीं करते, बल्कि (मैं खुद मजदूरके नाते ही यह कह रहा हूँ) उस पूँजीको स्वयं हथियाना चाहते हैं और खुद इस शब्दके बुरे अर्थमें पूँजीपति बनना चाहते हैं। और इसलिए पूँजीपतियोंको, जो अच्छी तरह संगठित हैं और अपनी जगह मजबूतीसे डट हुए ह, मजदूरोंमें अपना दरजा पानेके अभिलाषी उम्मीदवार मिल जाते हैं और वे मजदूरोंके इस अंशका उपयोग मजदूरोंको दबानेके लिए करते हैं। अगर हम लोग पूँजीकी इस मोहिनीके प्रभावमें न होते तो हममेंसे हरएक इस बुनियादी सत्यको आसानीसे समझ लेता।"

अधिकार और कर्तव्योंकी जोड़ी

एक बहुत बड़ी बुराई है जिसने समाजको मुसीबतमें डाल रखा है। (वह है हकोंकी लड़ाई)। एक तरफ पूँजीपति और जमींदार अपने हकोंकी बात करते हैं, दूसरी तरफ मजदूर अपने हकोंकी। राजा-महाराजा कहते हैं कि हमें शासन करनेका दैवी अधिकार मिला हुआ है, तो दूसरी तरफ उनकी रैयत कहती है कि उसे राजाओंके इस हकका विरोध करनेका अधिकार है। अगर सब लोग सिर्फ अपने हकोंपर ही जोर दें और फर्जोंको भल जायँ, तो चारों तरफ बड़ी गड़बड़ी और अंधाधुंधी मच जाय।

अगर हर आदमी हकोंपर जोर देनेके बजाय अपना फर्ज अदा करे, तो मनुष्यजातिमें जल्दी ही व्यवस्था और अमनका राज्य कायम हो जाय। राजाओंके राज्य करनेके दैवी अधिकार जैसी या रैयतके इज्जतसे अपने मालिकोंका हुक्म माननेके नम्र कर्तव्य जैसी कोई चीज नहीं है। यह सच है कि राजा और रैयतके पैदाइशी भेद मिटने ही चाहिए, क्योंकि वे समाजके हितको नुकसान पहुँचाते हैं। लेकिन यह भी सच है कि अभीतक कुचले और दबाकर रखे गये लाखों-करोड़ों लोगोंको हकोंका ढिठाईभरा दावा भी समाजके हितको ज्यादा नहीं तो उतना ही नुकसान जरूर पहुँचाता है। उनके इस दावेसे दैवी अधिकारों या दूसरे हकोंकी दुहाई देनेवाले

राजा-महाराजा या जमींदारों वगैराके वनिस्वत करोड़ों लोगोंको ही ज्यादा नुकसान पहुँचेगा। ये मुट्ठीभर जमींदार, राजा-महाराजा, या पूँजीपति वहादुरी या वुज-दिलीसे मर सकते हैं, लेकिन उनके मरनेसे ही सारे समाजका जीवन व्यवस्थित, सुखी और सन्तुष्ट नहीं वन सकता। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों-का आपसी सम्बन्ध समझ लें। मैं यह कहनेकी हिम्मत करूँगा कि जो हक पूरी तरह अदा किये गये फर्जसे नहीं मिलते, वे प्राप्त करने और रखने लायक नहीं हैं। वे दूसरोंसे छीने गये हक होंगे। उन्हें जल्दी-से-जल्दी छोड़ देनेमें ही भला है। जो अभागे माँ-वाप वच्चोंके प्रति अपना फर्ज अदा किये विना उनसे अपना हुक्म मनवाने-का दावा करते हैं, वे बच्चोंकी नफरतको ही भड़कायेंगे। जो वदचलन पति अपनी वफादार पत्नीसे हर वात मनवानेकी आशा करता है, वह धर्मके वचनको गलत समझता है, उसका एकतरफा अर्थ करता है। लेकिन जो वच्चे हमेशा फर्ज अदा करनेके लिए तैयार रहनेवाले माँ-बापको जलील करते हैं, वे कृतघ्न समझे जायँगे और माँ-बापके मुकावले खुदका ज्यादा नुकसान करेंगे। यही बात पति और पत्नी-के वारेमें भी कही जा सकती है। अगर यह सादा और सवपर लागू होनेवाला कायदा मालिकों और मजदूरों, जमींदारों और किसानों, राजाओं और रैयत, या हिन्दू और मुसलमानोंपर लगाया जाय, तो हम देखेंगे कि जीवनके हर क्षेत्रमें अच्छे-से-अच्छे सम्वन्ध कायम किये जा सकते हैं। और, ऐसा करनेसे न तो हिन्दुस्तान या दुनियाके दूसरे हिस्सोंकी तरह सामाजिक जीवन या व्यापारमें किसी तरहकी रुकावट आयेगी और न गड़वड़ी पैदा होगी। मैं जिसे सत्याग्रह कहता हूँ, वह नियम अपने-अपने फर्जों और उनके पालनसे अपने-आप प्रकट होनेवाले हकोंके सिद्धान्तोंको बरावर समझ लेनेका नतीजा है।[८]

१९. शान्तिसेना

कुछ समय पहले मैंने एक ऐसे स्वयंसेवकोंकी सेना वनानेकी तजवीज रखी थी जो दंगों, खासकर साम्प्रदायिक दंगोंको शान्त करनेमें अपने प्राणोंतककी बाजी लगा दे। विचार यह था कि यह सेना पुलिसका ही नहीं, वल्कि फौजतकका स्थान ले लेगी। यह बात बड़ी महत्त्वाकांक्षावाली मालूम पड़ती है। शायद यह असंभव भी सावित हो। फिर भी, अगर हमें अहिंसात्मक लड़ाईमें कामयाबी हासिल करनी हो तो परिस्थितियोंका शान्तिपूर्वक मुकाबला करनेकी अपनी शक्ति हमें वढ़ानी ही चाहिए।

हमें देखना चाहिए कि जिस शान्तिसेनाकी हमने कल्पना की है, उसके सदस्योंकी क्या योग्यताएँ होनी चाहिए:

(१) शान्तिसेनाका सदस्य पुरुष हो या स्त्री, अहिंसामें उसका जीवित

विश्वास होना चाहिए। यह तभी संभव है जब कि ईश्वरमें उसका जीवित विश्वास हो। अहिंसक व्यक्ति तो ईश्वरकी कृपा और शक्तिके वगैर कुछ कर ही नहीं सकता। इसके बिना उसमें क्रोध, भय और बदलेकी भावना न रखते हुए मरनेका साहस नहीं होगा। ऐसा साहस तो इस श्रद्धासे आता है कि सबके हृदयोंमें ईश्वरका निवास है, और ईश्वरकी उपस्थितिमें किसी भी भयकी जरूरत नहीं। ईश्वरकी सर्व-व्यापकताके ज्ञानका यह भी अर्थ है कि जिन्हें विरोधी या गुंडे कहा जा सकता हो उनके प्राणोंतकका हम खयाल रखें। यह इरादतन् दस्तन्दाजी उस समय मनुष्यके क्रोधको शान्त करनेका एक तरीका है, जब कि उसके अन्दरका पशुभाव उसपर हावी हो जाय।

(२) शान्तिके इस दूतमें दुनियाके सभी खास-खास धर्मोंके प्रति समान श्रद्धा होना जरूरी है। इस प्रकार अगर वह हिन्दू हो तो वह हिन्दुस्तानमें प्रचलित अन्य धर्मोंका आदर करेगा। इसलिए देशमें माने जानेवाले विभिन्न धर्मके सामान्य सिद्धान्तोंका उसे ज्ञान होना चाहिए।

(३) आमतौरपर शान्तिका यह काम केवल स्थानीय लोगोंद्वारा अपनी वस्तियोंमें हो सकता है।

(४) यह काम अकेले या समूहोंमें हो सकता है। इसलिए किसीको संगी-साथियोंके लिए इन्तजार करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी आदमी स्वभावतः अपनी बस्तीमेंसे कुछ साथियोंको ढूँढ़कर स्थानीय सेनाका निर्माण करेगा।

(५) शान्तिका यह दूत व्यक्तिगत सेवाद्वारा अपनी बस्ती या किसी चुने हुए क्षेत्रमें लोगोंके साथ ऐसा संबंध स्थापित करेगा, जिससे जब उसे भद्दी स्थितियोंमें काम करना पड़े तो उपद्रवियोंके लिए वह विलकुल ऐसा अजनवी न हो, जिसपर वे शक करें या उन्हें नागवार मालूम पड़े।

(६) यह कहनेकी तो जरूरत ही नहीं कि शान्तिके लिए काम करनेवालेका चरित्र ऐसा होना चाहिए, जिसपर कोई अँगुली न उठा सके और वह अपनी निष्पक्षताके लिए मशहूर हो।

(७) आमतौरपर दंगोंसे पहले तूफान आनेकी चेतावनी मिल जाया करती है। अगर ऐसे आसार दिखायी दें तो शान्तिसेना आग भड़क उठनेतक इन्तजार न करके तभीसे परिस्थितिको सँभालनेका काम शुरू कर देगी, जबसे कि उसकी संभावना दिखायी दे।

(८) अगर यह आन्दोलन बढ़े तो कुछ पूरे समय काम करनेवाले कार्यकर्ताओं-का इसके लिए रहना अच्छा होगा। लेकिन यह विलकुल जरूरी नहीं कि ऐसा हो ही। खयाल यह है कि जितने भी अच्छे स्त्री-पुरुष मिल सकें उतने रखे जायँ। लेकिन वे तभी मिल सकते हैं जब कि स्वयंसेवक ऐसे लोगोंमेंसे प्राप्त हों जो जीवनके विविध कार्योंमें लगे हुए हों, पर उनके पास इतना अवकाश हो कि अपने इलाकोंमें

रहनेवाले लोगोंके साथ वे मित्रताके सम्बन्ध पैदा कर सकें तथा उन सब योग्यताओं-को रखते हों जो शान्तिसेनाके सदस्यमें होनी चाहिए।

(९) इस सेनाके सदस्योंकी एक खास पोशाक होनी चाहिए, जिससे कालांतर-में उन्हें बिना किसी कठिनाईके पहचाना जा सके।

ये सिर्फ आम सूचनाएँ हैं, जिनके आधारपर हरएक केन्द्र अपना विधान बना सकता है।[1]

हिंसक दलमें आदमीके चाल-चलनको नहीं देखा जाता। उसके कद और डीलडौलको ही देखा जाता है। ऐसे दलोंको चलानेके लिए सजा नहीं, तो सजाका डर होना चाहिए और जरूरत मालूम होनेपर सजा दी भी जानी चाहिए। अहिंसक दलमें इससे ठीक उलटा होता है। उसमें शरीरकी जगह गौण होती है, शरीरी ही सब कुछ होता है यानी चरित्र सब कुछ होता है। ऐसे चरित्रवान् व्यक्तिको पहचानना मुश्किल है। इसलिए बड़े-बड़े शान्तिदल स्थापित नहीं किये जा सकते। वे छोटे ही होंगे। जगह-जगह होंगे, हर गाँव या हर मुहल्लेमें होंगे। मतलब यह कि जो जाने-पहचाने लोग हैं, उन्हींकी टुकड़ियाँ बनेंगी। वे मिलकर अपना एक मुखिया चुन लेंगे। सबका दरजा बराबर होगा। जहाँ एकसे ज्यादा आदमी एक ही तरहका काम करते हैं, वहाँ उनमें एकाध ऐसा होना चाहिए, जिसकी आज्ञाके अनुसार सब कोई चल सकें। ऐसा न हो तो मेलजोलके साथ, सहयोगसे, काम नहीं हो सकता। दो या दोसे ज्यादा लोग अपनी-अपनी मरजीसे काम करें, तो मुमकिन है कि उनके कामकी दिशा एक-दूसरेसे उलटी हो। इसलिए जहाँ दो या दोसे ज्यादा दल हों, वहाँ वे हिल-मिलकर काम करें तभी काम चल सकता है और उसमें कामयाबी हो सकती है। इस तरहके शान्तिदल जगह-जगह हों, तो वे आरामसे और आसानीसे दंगा-फसादको रोक सकते हैं। ऐसे दलोंको अखाड़ोंमें दी जानेवाली सभी तरहकी तालीम देना जरूरी नहीं। उनमें दी जानेवाली कुछ तालीम लेना जरूरी हो सकता है।

सब शान्ति-दलोंके लिए एक चीज आम यानी सामान्य होनी चाहिए। शान्ति-दलके हरएक सदस्यका ईश्वरमें अटल विश्वास होना चाहिए। उसमें यह श्रद्धा होनी चाहिए कि ईश्वर ही सच्चा साथी है और वही सबका सरजनहार है, कर्ता है। इसके बिना जो शान्तिसेनाएँ बनेंगी, मेरे खयालमें वे बेजान होंगी। ईश्वरको आप किसी भी नामसे पुकारें, मगर उसकी शक्तिका उपयोग तो आपको करना ही है। ऐसा आदमी किसीको मारेगा नहीं, बल्कि खुद मरकर मृत्युपर विजय पायेगा और जी जायेगा।

जिस आदमीके लिए यह कानून एक जीती-जागती चीज बन जायगा, उसको समयके अनुसार बुद्धि भी अपने-आप सूझती रहेगी।

फिर भी अपने तजरबेसे मैं यहाँ कुछ नियम देता हूँ :

(१) सेवक अपने साथ कोई भी हथियार न रखे।

(२) वह अपने बदनपर कोई ऐसी निशानी रखे, जिससे फौरन् पता चले कि वह शान्तिदलका सदस्य है।

(३) सेवकके पास घायलों वगैराकी सार-सँभालके लिए तुरत काम देनेवाली चीजें रहनी चाहिए। जैसे, पट्टी, कैंची, छोटा चाकू, सूई वगैरा।

(४) सेवकको ऐसी तालीम मिलनी चाहिए, जिससे वह घायलोंको आसानीसे उठाकर ले जा सके।

(५) जलती आगको बुझानेकी, बिना जले या बिना झुलसे आगवाली जगहोंमें जानेकी, ऊपर चढ़नेकी और उतरनेकी कला सेवकमें होनी चाहिए।

(६) अपने मुहल्लेके सब लोगोंसे उसकी अच्छी जान-पहचान होनी चाहिए। यह खुद ही अपने-आपमें एक सेवा है।

(७) उसे मन-ही-मन राम-नामका बराबर जप करते रहना चाहिए और इसमें माननेवाले दूसरोंको भी ऐसा करनेके लिए समझाना चाहिए।

कुछ लोग आलस्यकी वजहसे या झूठी आदतकी वजहसे यह मान बैठते हैं कि ईश्वर तो है ही और वह बिना माँगे मदद करता है, फिर उसका नाम रटनेसे क्या फायदा? हम ईश्वरकी हस्तीको कबूल करें या न करें, इससे उसकी हस्तीमें कोई कमी-बेशी नहीं होती, यह सच है। फिर भी उस हस्तीका उपयोग तो अभ्यासी ही कर पाता है। हरएक भौतिक शास्त्रके लिए यह बात सौ फीसदी सच है, तो फिर अध्यात्मके लिए तो यह उससे भी ज्यादा सच होनी चाहिए। ···सेवकमें इस सचाईको अपने जीवनमें सिद्ध करनेकी ताकत होनी चाहिए।[२]

कायरताका इलाज शारीरिक तालीममें नहीं, बल्कि जो भी खतरे आयें उनका मुकाबला बहादुरीके साथ करनेमें है। जबतक मध्यम वर्गके लोग जो खुद डरपोक होते हैं, ज्यादा लाड़-प्यारके द्वारा अपने जवान लड़कों-बच्चोंको नाजुक बनाना और इस तरह अपना डरपोकपन उनमें भरना जारी रखते हैं, तबतक उनमें खतरा टालने और किसी भी तरहकी जोखिमसे बचनेकी जो वृत्ति पायी जाती है, वह भी जारी रहेगी। इसलिए उन्हें अपने लड़कोंको अकेला छोड़नेका साहस करना चाहिए; उन्हें खतरेमें पड़ने देना चाहिए और ऐसा करते हुए यदि वे मर जाते हैं तो मर जाने देना चाहिए। शरीरसे कमजोर किसी बौने आदमीमें भी शेरका दिल हो सकता है। और बहुत हट्टे-कट्टे जुलू* भी अंग्रेज लड़कोंके सामने काँपने लग जाते हैं। हरएक गाँवको अपनी बस्तीमेंसे ऐसे शेरदिल व्यक्ति ढूँढ़ निकालने चाहिए।[३]

जिन लोगोंको गुंडा माना जाता है, उनसे हमें जान-पहचान करनी चाहिए। शान्तिका साधक अपने आसपास समाजके किसी अंगको ऐसे रहने नहीं देगा।

* दक्षिण अफ्रीकाकी एक तगड़ी जाति।—सं०

सबके साथ मीठा संबंध बाँधेगा, सबकी सेवा करेगा। गुंडे लोग आकाशसे तो नहीं उतरते। भूतकी तरह जमीनके पेटमेंसे भी नहीं निकलते। उनकी उत्पत्ति समाजकी कु-व्यवस्थासे ही होती है। इसलिए समाज उसके लिए जिम्मेदार है। गुंडोंको समाजका बीमार या एक प्रकारका दूषित अंग समझना चाहिए। ऐसा मानकर उस बीमारीके कारण ढूँढ़ने चाहिए। कारण हाथ लगनेपर बादमें इलाज किया जा सकता है। अबतक तो इस दिशामें प्रयत्नतक नहीं किया गया। 'जागे तभी सवेरा' इस सुभाषितके अनुसार यह प्रयत्न अब शुरू कर देना चाहिए।··· सब अपनी अपनी जगह कोशिश करें। ऐसी कोशिशोंकी सफलतामें ही इस सवालका जवाब समाया हुआ है।[6]

२०. सत्याग्रह

कोई भी मनुष्यकी बनायी हुई संस्था ऐसी नहीं है जिसमें खतरा न हो। संस्था जितनी बड़ी होगी, उसके दुरुपयोगकी संभावनाएँ भी उतनी ही बड़ी होंगी। लोकतंत्र एक बड़ी संस्था है, इसलिए उसका दुरुपयोग भी बहुत हो सकता है। लेकिन उसका इलाज लोकतंत्रसे बचना नहीं, बल्कि दुरुपयोगकी संभावनाको कम-से-कम करना है।[1]

अगर हम लोकशाहीकी सच्ची भावनाका विकास करना चाहते हैं, तो हम असहिष्णु नहीं हो सकते। असहिष्णुता बताती है कि अपने ध्येयकी सच्चाईमें हमारा पूरा विश्वास नहीं है।[2]···

···हम अपने लिए स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत प्रकट करने और कार्य करनेके अधिकारका दावा करते हैं, तो यही अधिकार हमें दूसरोंको भी देना चाहिए। बहुसंख्यक दलका शासन, जब वह लोगोंके साथ जबरदस्ती करने लगता है, तब उतना ही असह्य हो उठता है, जितना किसी अल्पसंख्यक नौकरशाहीका। हमें अल्पसंख्यकोंको अपने पक्षमें धीरजके साथ, समझा-बुझाकर और दलील करके ही लानेकी कोशिश करनी चाहिए।[3]

बहुसंख्यक दलका शासन अमुक हदतक जरूर माना जाना चाहिए। यानी, ब्योरेकी बातोंमें हमें बहुसंख्यक दलका निर्णय स्वीकार कर लेना चाहिए। लेकिन उसके निर्णय कुछ भी क्यों न हों, उन्हें हमेशा स्वीकार कर लेना गुलामीका चिह्न है। लोकशाही किसी ऐसी स्थितिका नाम नहीं है, जिसमें लोग भेड़ोंकी तरह व्यवहार करें। लोकशाहीमें व्यक्तिके मत-स्वातंत्र्य और कार्य-स्वातंत्र्यकी रक्षा अत्यंत सावधानीसे की जाती है, और की जानी चाहिए। इसलिए मैं यह विश्वास करता हूँ कि अल्पसंख्यकोंको बहुसंख्यकोंसे अलग ढंगसे चलनेका पूरा अधिकार है।[4]

अगर व्यक्तिका महत्त्व न रहे, तो समाजमें भी क्या सत्त्व रह जायगा? वैयक्तिक स्वतंत्रता ही मनुष्यको समाजकी सेवाके लिए स्वेच्छापूर्वक अपना पूरा अर्पण करनेकी प्रेरणा दे सकती है। यदि उससे यह स्वतंत्रता छीन ली जाय, तो वह

एक जड़ यंत्र जैसा हो जाता है और समाजकी बरबादी होती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता-को अस्वीकार करके कोई सभ्य समाज नहीं बनाया जा सकता।[५]

सत्याग्रह जन्मसिद्ध अधिकार है

सविनय अवज्ञा नागरिकका जन्मसिद्ध अधिकार है। वह अपने इस अधिकार-को अपना मनुष्यत्व खोकर ही छोड़ सकता है। सविनय अवज्ञाका परिणाम कभी भी अराजकतामें नहीं आ सकता। दुष्ट हेतुसे की गयी अवज्ञासे ही अराजकता पैदा हो सकती है। दुष्ट हेतुसे की जानेवाली अवज्ञाको हरएक राज्य बलपूर्वक अवश्य दबायेगा। यदि वह उसे नहीं दबायेगा तो वह खुद नष्ट हो जायगा। किन्तु सविनय अवज्ञाको दबानेका अर्थ तो अन्तरात्माकी आवाजको दबानेकी कोशिश करना है।[६]

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि सविनय कानून-भंग वैधानिक आन्दोलनका शुद्धतम रूप है। बेशक, उसमें विनय और अहिंसाकी जिस विशिष्टताका दावा किया जाता है, वह यदि दूसरोंको धोखा देनेके लिए ओढ़ लिया गया झूठा आवरण-मात्र हो, तो वह लोगोंको गिराता है और निन्दनीय बन जाता है।[७]

शुद्ध सत्याग्रहकी कसौटी

कानूनकी अवज्ञा सच्चे भावसे और आदरपूर्वक की जाय, उसमें किसी प्रकारकी उद्धतता न हो और वह किसी ठोस सिद्धान्तपर आधारित हो तथा उसके पीछे द्वेष या तिरस्कारका लेश भी न हो--यह आखिरी कसौटी सबसे ज्यादा महत्त्वकी है--तो ही उसे शुद्ध सत्याग्रह कहा जा सकता है।[८]

कानूनकी सविनय अवज्ञामें केवल वे लोग ही हिस्सा ले सकते हैं, जो राज्य-द्वारा लादे गये कष्टप्रद कानूनोंका--अगर वे उनकी धर्म-बुद्धि या अन्तःकरणको चोट न पहुँचाते हों तो--स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं और जो इस तरह की गयी अवज्ञाका दण्ड भी उतनी ही खुशीसे भोगनेके लिए तैयार हों। कानूनकी अवज्ञा सविनय तभी कही जा सकती है जब वह पूरी तरह अहिंसक हो। सविनय अवज्ञाके पीछे सिद्धांत यह है कि प्रतिपक्षीको खुद कष्ट सहकर यानी प्रेमके द्वारा जीता जाय।[९]

चूँकि सत्याग्रह सीधी कार्रवाईके अत्यंत बलशाली उपायोंमेंसे एक है, इसलिए सत्याग्रही सत्याग्रहका आश्रय लेनेसे पहले और सब उपाय आजमाकर देख लेता है। इसके लिए वह सदा और निरन्तर सत्ताधारियोंके पास जायगा, लोकमतको प्रभावित और शिक्षित करेगा, जो उसकी सुनना चाहते हैं उन सबके सामने अपना मामला शान्ति और ठंडे दिमागसे रखेगा और जब ये सब उपाय वह आजमा चुकेगा तभी सत्याग्रहका आश्रय लेगा। परन्तु जब उसे अन्तर्नादकी प्रेरक पुकार सुनायी देती है और वह सत्याग्रह छेड़ देता है, तब वह अपना सब-कुछ दाँवपर लगा देता है और पीछे कदम नहीं हटाता।[१०]

सत्याग्रह शब्दका उपयोग अकसर बहुत शिथिलतापूर्वक किया जाता है और छिपी हुई हिंसाको भी यह नाम दे दिया जाता है। लेकिन इस शब्दके रचयिताके नाते मुझे यह कहनेकी अनुमति मिलनी चाहिए कि उसमें छिपी हुई अथवा प्रकट सभी प्रकारकी हिंसाका, फिर वह कर्मकी हो या मन और वाणीकी हो, पूरा बहिष्कार है। प्रतिपक्षीका बुरा चाहना या उसे हानि पहुँचानेके इरादेसे उससे या उसके बारेमें बुरा बोलना सत्याग्रहका उल्लंघन है। सत्याग्रह एक सौम्य वस्तु है, वह कभी चोट नहीं पहुंचाता। उसके पीछे क्रोध या द्वेष नही होना चाहिए। उसमें शोरगुल, प्रदर्शन या उतावली नहीं होती है। वह जबरदस्तीसे बिलकुल उलटी चीज है। उसकी कल्पना हिंसासे उलटी, परंतु हिंसाका स्थान पूरी तरह भर सकने-वाली चीजके रूपमें की गयी है।"[11]

मैंने असंख्य बार कहा है कि सत्याग्रहमें हिंसा, लूटमार, आगजनी आदिके लिए कोई स्थान नहीं है; लेकिन इसके बावजूद हमने मकान जलाये हैं, बलपूर्वक हथियार छीने हैं, लोगोंको डरा-धमकाकर उनसे पैसा लिया है, रेलगाड़ियाँ रोकी हैं, तार काटे हैं, निर्दोष आदमियोंकी हत्या की है और दूकानों तथा लोगोंके निजी घरोंमें लूटमार की है। इस तरहके कामोंसे मुझे जेल या फाँसीके तख्तेसे बचाया जा सकता हो तो भी मैं इस तरह बचाया जाना पसन्द नहीं करूँगा।"[12]

हिंसाके उपायोंके प्रयोगसे मुझे तो भारतके लिए नाशके सिवा और कुछ नजर नहीं आता। अगर लोग अपना गुस्सा देशमें प्रचलित कानूनको दुष्ट भावसे तोड़कर प्रकट करें, तो मैं कहूँगा कि वे आत्मघात कर रहे हैं और भारतको उसके फलस्वरूप अवर्णनीय कष्ट भोगने पड़ेंगे। जब मैंने सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा-का प्रचार शुरू किया तो उसका यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि उसमें कानूनोंकी दुष्ट भावसे की जानेवाली उद्धत अवज्ञाका भी समावेश होगा। मेरा अनुभव मुझे सिखाता है कि सत्यका प्रचार हिंसाके द्वारा कभी नहीं किया जा सकता। जिन्हें अपने ध्येयके औचित्यमें विश्वास है, उनमें असीम धीरज होना चाहिए। और कानूनकी सविनय अवज्ञाके लिए केवल वे ही व्यक्ति योग्य माने जा सकते हैं, जो अविनय अवज्ञा (क्रिमिनल डिसओबीडियन्स) या हिंसा किसी तरह कर ही न सकते हों। जिस तरह कोई आदमी एक ही समयमें संयत और कुपित (दोनों) नहीं हो सकता, उसी तरह कोई सविनय अवज्ञा और अविनय अवज्ञा, दोनों एक साथ नहीं कर सकता। और जिस तरह आत्मसंयमकी शक्ति अपने मनोविकारोंपर पूरा नियंत्रण पा चुकनेके बाद ही आती है, उस तरह जब हम देशके कानूनोंका खुशीसे और पूरा-पूरा पालन करना सीख चुके हों, तभी हम उनकी सविनय अवज्ञा करनेकी योग्यता प्राप्त करते हैं। फिर, जिस तरह किसी आदमीको हम प्रलोभनोंकी पहुँचके ऊपर तभी कह सकते हैं जब कि वह प्रलोभनोंसे घिरा रहा हो और फिर भी उनका निवारण कर सका हो, उसी तरह हमने क्रोधको जीत लिया है, ऐसा तभी

कहा जा सकता है जब क्रोधका काफी कारण होनेपर भी हम अपने ऊपर काबू रखनेमें कामयाब सिद्ध हों।[१३]

धरना या घेराव

कुछ लोगोंने धरना देनेके पुराने जंगलीपनको फिरसे जिन्दा किया है। मैं इसे 'जगलीपन' इसलिए कहता हूँ कि यह दवाव डालनेका भद्दा ढंग है। इसमें कायरता भी है, क्योंकि जो धरना देता है वह जानता है कि उसे कुचलकर कोई नहीं जायगा। इस कृत्यको हिंसात्मक कहना तो कठिन है, मगर वह इससे भी वदतर जरूर है। अगर हम अपने विरोधीसे लड़ते हैं तो कम-से-कम उसे बदलेमें वार करनेका मौका तो देते हैं। लेकिन जब हम उसे अपनेको कुचलकर निकलनेकी चुनौती देते ह––यह जानते हुए कि वह ऐसा नही करेगा––तव हम उसे एक अत्यंत विषम और अपमानजनक स्थितिमें रख देते हैं। मैं जानता हूँ कि धरना देनेके अत्यधिक जोशमें (यह) कभी सोचा भी नहीं (गया) होगा कि यह कृत्य जंगलीपन है। परन्तु जिससे यह आशा की जाती है कि वह अन्त:करणकी आवाजपर चलेगा और भारी विपत्तियोंका अकेले सामना करेगा, वह विचारहीन नहीं वन सकता। इसलिए असहयोगियोंको हर काममें पहलेसे ही सचेत रहना चाहिए। उनके काममें कोई अधीरता, कोई जंगलीपन, कोई गुस्ताखी और कोई अनुचित दवाव नहीं होना चाहिए।[१४]

व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत स्वतंत्रताका अन्तर

शासनके खिलाफ विवेकरहित विरोध चलाया जाय तो उससे अराजकताकी, अनियंत्रित स्वच्छंदताकी स्थिति पैदा होगी और समाज अपने ही हाथों अपना नाश कर डालेगा।[१५] ···व्यक्तिगत स्वतंत्रताकी मैं कदर करता हूँ, लेकिन आपको यह हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी ही है। सामाजिक प्रगतिकी आवश्यकताओंके अनुसार अपने व्यक्तित्वको ढालना सीखकर ही वह वर्तमान स्थितितक पहुँचा है। अवाध व्यक्तिवाद वन्य पशुओंका नियम है। हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयमके वीच समन्वय करना सीखना है। समस्त समाजके हितके खातिर सामाजिक संयमके आगे स्वेच्छापूर्वक सिर झुकानेसे व्यक्ति और समाज, जिसका कि वह एक सदस्य है, दोनोंका ही कल्याण होता है।···जन्मजात लोकतंत्रवादी वह होता है, जो जन्मसे ही अनुशासनका पालन करनेवाला हो। लोकतंत्र स्वाभाविक रूपमें उसीको प्राप्त होता है, जो साधारण रूपमें अपनेको मानवी तथा दैवी सभी नियमोंका स्वेच्छापूर्वक पालन करनेका अभ्यस्त बना ले।···जो लोग लोकतंत्रके इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि पहले वे लोकतंत्रकी इस कसौटीपर अपनेको परख लें। इसके अलावा, लोकतंत्रवादीको

निःस्वार्थ भी होना चाहिए। उसे अपनी या अपने दलकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि एकमात्र लोकतंत्रकी ही दृष्टिसे सब-कुछ सोचना चाहिए। तभी वह सविनय अवज्ञाका अधिकारी हो सकता है।[१६]

कानूनकी सविनय अवज्ञाकी पूर्ववर्ती अनिवार्य शर्त यह है कि उसमें इस बात-का पूरा आश्वासन होना चाहिए कि अवज्ञा-आन्दोलनमें भाग लेनेवालोंकी ओरसे या आम जनताकी ओरसे कहीं कोई हिंसा नहीं होगी। हिंसक उपद्रव होनेपर यह कहना कि उसके पीछे राज्यका या अवज्ञाकारियोंका विरोध करनेवाले दूसरे दलोंका हाथ है उचित उत्तर नहीं है। जाहिर है कि सविनय अवज्ञाका आन्दोलन हिंसाके वातावरणमें नहीं पनप सकता। इसका यह मतलब नहीं कि ऐसी स्थितिमें सत्याग्रहीके पास फिर कोई उपाय ही नहीं रह जाता। उसे सविनय अवज्ञासे भिन्न दूसरे उपायोंकी खोज करनी चाहिए।[१७]

उपवास

उपवास सत्याग्रहके शस्त्रागारका एक अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र है। उसे हर कोई नहीं कर सकता। केवल शारीरिक योग्यता इसके लिए कोई योग्यता नहीं है। ईश्वरमें जीती-जागती श्रद्धा न हो तो दूसरी योग्यताएँ निरुपयोगी हैं। वह निरा यांत्रिक प्रयत्न या अनुकरण कभी नहीं होना चाहिए। उसकी प्रेरणा अपनी अन्तरात्माकी गहराईसे आनी चाहिए। इसलिए वह बहुत विरल होता है।[१८]

(यहाँ) मैं एक सामान्य सिद्धान्तका उल्लेख करना चाहूँगा। सत्याग्रहीको उपवास अन्तिम उपायके तौरपर ही करना चाहिए, यानी तब जब कि अपनी शिकायत दूर करवानेके और सब उपाय विफल हो गये हों। उपवासमें अनुकरणके लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जिसमें आन्तरिक शक्ति न हो, उसे उपवासका विचार भी नहीं करना चाहिए। उपवास सफलताकी आसक्ति रखकर कभी न किया जाय।...जिनमें उपवासका तत्त्व नहीं होता ऐसे उपहासास्पद उपवास बीमारीकी तरह फैलते हैं और हानिकारक सिद्ध होते हैं।[१९]

शुद्ध उपवासमें स्वार्थ, क्रोध, अविश्वास या अधीरताके लिए कोई जगह नहीं हो सकती।...अपार धीरज, दृढ़ता, ध्येयमें एकाग्र-निष्ठा, और पूर्ण शान्ति तो उपवास करनेवालेमें होनी ही चाहिए। ये सब गुण किसी व्यक्तिमें एकाएक नहीं आ सकते, इसलिए जिसने यम-नियमादिका पालन करके अपना जीवन शुद्ध न कर लिया हो, उसे सत्याग्रहके हेतुसे किया जानेवाला उपवास नहीं करना चाहिए।[२०]

इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता कि उपवासोंमें बलात्कारका तत्त्व कभी-कभी जरूर हो सकता है। कोई स्वार्थपूर्ण उद्देश्य प्राप्त करनेके लिए किये जानेवाले उपवासोंमें यह बात होती है। किसी व्यक्तिसे उसकी इच्छाके खिलाफ

पैसा खींचने या ऐसा कोई वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए किया गया उपवास अनुचित दवाव डालना या बलात्कारका प्रयोग करना ही कहा जायगा। मेरे खिलाफ किये गये उपवासोंमें—अथवा जब मुझे अपने खिलाफ उपवास करनेकी धमकियाँ दी गयी हैं तब—मैंने उसमें रहे अनुचित दवावका सफल प्रतिरोध किया है। अगर यह कहा जाय कि स्वार्थपूर्ण और स्वार्थहीन प्रयोजनोंकी विभाजक रेखा वहुत अस्पष्ट है और इसलिए उनका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता, तो मेरी सलाह यह है कि जो आदमी किसी उपवासके उद्देश्योंको स्वार्थपूर्ण या अन्यथा निंदनीय मानता है, उसे उस उपवासके सामने झुकनेसे दृढ़तापूर्वक इनकार कर देना चाहिए, चाहे इस कारण उपवास करनेवालेकी मृत्यु ही क्यों न हो जाय।

यदि लोग ऐसे उपवासोंकी उपेक्षा करने लग जायँ, जो उनके मतानुसार अनुचित उद्देश्योंकी प्रांप्तिके लिए किये गये हों, तो इन उपवासोंमें बलात्कार या अनुचित दवावका जो दोष पाया जाता है उससे वे मुक्त हो जायँगे। दूसरी मनुष्य-कृत कार्य-प्रणालियोंकी तरह उपवासके भी उचित और अनुचित दोनों किस्मके उपयोग हो सकते हैं।[२१]

सत्याग्रहकी सही तालीम

हमें इन हजारों-लाखों लोगोंको, जिनका हृदय सोनेका है, जिन्हें देशसे प्रेम है, जो सीखना चाहते हैं और यह इच्छा रखते हैं कि कोई उनका नेतृत्व करे, सही तालीम देनी चाहिए। केवल थोड़ेसे बुद्धिमान् और निष्ठावान् कार्यकर्ताओंकी जरूरत है। वे मिल जायँ तो सारे राष्ट्रको बुद्धिपूर्वक काम करनेके लिए संघटित किया जा सकता है तथा भीड़की अराजकताकी जगह सही प्रजातंत्रका विकास किया जा सकता है।[२२]

मैं खुद तो सरकारकी नाराजी (क्रोध) की उतनी परवाह नहीं करता, जितनी भीड़की नाराजी (क्रोध) की। भीड़की मनमानी राष्ट्रीय बीमारीका लक्षण है और इसलिए सरकारकी नाराजीकी—जो कि अल्पकाय संघतक ही सीमित होती है—तुलनामें उससे निपटना ज्यादा मुश्किल है। ऐसी किसी सरकारको जिसने अपनेको शासनके लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया हो, अपदस्थ करना आसान है, लेकिन किसी भीड़में शामिल अनजाने आदमियोंका पागलपन दूर करना ज्यादा कठिन है।[२३]

(लेकिन) भीड़को अनुशासन सिखानेसे ज्यादा आसान (भी) और कुछ नहीं है। कारण सीधा है। भीड़ कोई काम बुद्धिपूर्वक नहीं करती, उसकी कोई पहलेसे सोची हुई योजना नहीं होती। भीड़के लोग जो कुछ करते हैं सो आवेशमें करते हैं। अपनी गलतीके लिए पश्चात्ताप भी वे जल्दी करते हैं।[२४]

सरकारकी ओरसे या प्रजाकी ओरसे आतंकवाद चलाया जा रहा हो, तब लोकशाहीकी भावनाकी स्थापना करना असंभव है। और कुछ अंशोंमें सरकारी

आतंकवादकी तुलनामें प्रजाकीय आतंकवाद लोकशाहीकी भावनाके प्रसारका ज्यादा बड़ा शत्रु है।[२५]

वास्तवमें तो (सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो जानेपर यानी) जब राजसत्ता जनताके हाथमें आ जाती है, तब प्रजाकी आजादीमें होनेवाले हस्तक्षेपकी मात्रा कम-से-कम होती जाती है। दूसरे शब्दोंमें, जो राष्ट्र अपना काम राज्यके हस्तक्षेप-के बिना ही शान्तिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंगसे कर दिखाता है, उसे ही सच्चे अर्थोंमें लोकतंत्रात्मक कहा जा सकता है। जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ सरकारका बाहरी रूप लोकतंत्रात्मक भले हो, परन्तु वह नामके लिए ही लोकतंत्रात्मक है।[२६]

मैं राज्यकी सत्ताकी वृद्धिको बड़े-से-बड़े भयकी दृष्टिसे देखता हूँ। क्योंकि जाहिरा तौरपर तो वह शोषणको कम-से-कम करके लाभ पहुँचाती है; परन्तु व्यक्तित्वको—जो सब प्रकारकी उन्नतिकी जड़ है—नष्ट करके वह मानव-जातिको बड़ी-से-बड़ी हानि पहुँचाती है।

राज्य केन्द्रित और संगठित रूपसे हिंसाका प्रतीक है। व्यक्तिके आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक आत्मा-रहित जड़ मशीन होता है, इसलिए उससे हिंसा कभी नहीं छुड़वायी जा सकती; उसका अस्तित्व ही हिंसापर निर्भर है।[२७]

मेरी दृष्टिमें राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परन्तु जीवनके प्रत्येक विभागमें लोगोंके लिए अपनी हालत सुधार सकनेका एक साधन है। राजनीतिक सत्ताका अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवनका नियमन करनेकी शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्वकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अरा-जकताकी स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थितिमें हरएक अपना राजा होता है। वह इस ढंगसे अपनेपर शासन करता है कि अपने पड़ोसियोंके लिए कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए आदर्श अवस्थामें कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। परन्तु जीवनमें आदर्शकी पूरी सिद्धि कभी नहीं होती। इसलिए थोरोने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे वही उत्तम सरकार है।[२८]

अब सवाल यह है कि आदर्श समाजमें कोई राजसत्ता रहेगी या वह एक बिल-कुल अराजक समाज बनेगा? मेरे खयालमें ऐसा सवाल पूछनेसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता। अगर हम ऐसे समाजके लिए मेहनत करते रहें, तो वह किसी हद-तक बनता रहेगा, और उस हदतक लोगोंको उससे फायदा पहुँचेगा। युक्लिडने कहा है कि लाइन वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो। लेकिन ऐसी लाइन या लकीर न तो आजतक कोई बना पाया, न बना पायेगा। फिर भी ऐसी लाइनको खयालमें रखनेसे ही प्रगति हो सकती है। और, हरएक आदर्शके बारेमें यही सच है।

आज दुनियामें कहीं भी अराजक समाज मौजूद नहीं है। अगर कभी कहीं बन

सकता है, तो उसका आरम्भ हिन्दुस्तानमें ही हो सकता है। क्योंकि हिन्दुस्तान-में ऐसा समाज बनानेकी कोशिश की गयी है। आजतक हम आखिरी दरजेकी बहादुरी नहीं दिखा सके; मगर उसे दिखानेका एक ही रास्ता, और वह यह है कि जो लोग उसे मानते हैं वे उसे दिखायें। ऐसा कर दिखानेके लिए, जिस तरह हमने जेलोंका डर छोड़ दिया है, उसी तरह हमें मृत्युका डर भी छोड़ देना होगा।[२]

२१. क्या युवक चुनौती स्वीकार करेंगे ?

हम एक ऊंची ग्राम-सभ्यताके उत्तराधिकारी हैं। हमारे देशकी विशालता, आबादीकी विशालता और हमारी भूमिकी स्थिति तथा आबहवाने, मेरी रायमें, मानो यह तय कर दिया है कि उसकी सभ्यता ग्राम-सभ्यता ही होगी। उसके दोष मशहूर हैं, लेकिन उनमें कोई ऐसा नहीं है जिसका इलाज न हो सकता हो। इस सभ्यताको मिटाकर उसकी जगह शहरी सभ्यताको जमाना मुझे तो अशक्य मालूम होता है। हाँ, हम लोग किन्हीं कठोर उपायोंके द्वारा अपनी आबादी ३० करोड़से घटाकर ३ करोड़ या ३० लाख करनेको तैयार हो जायँ तो दूसरी बात है। इसलिए यह मानकर कि हम लोगोंको मौजूदा ग्राम-सभ्यता ही कायम रखना है और उसके माने हुए दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करना है, मैंने उन दोषोंके इलाज सुझाये हैं। लेकिन इन इलाजोंका उपयोग तभी हो सकता है, जब कि देशका युवक-वर्ग ग्राम-जीवनको अपना ले। और अगर वे ऐसा करना चाहते हों तो उन्हें अपने जीवनका तौर-तरीका बदलना चाहिए और अपनी छुट्टियोंका हरएक दिन अपने कॉलेज या हाईस्कूलके आसपासवाले गाँवोंमें बिताना चाहिए; और जो अपनी शिक्षा पूरी कर चुकें हों या जो शिक्षा ले ही न रहे हों उन्हें गाँवोंमें बसनेका इरादा कर लेना चाहिए।[१]

गाँवोंमें जाकर काम करनेसे हम चौंकते हैं। हम शहरी लोगोंको देहाती जीवन अपनाना बहुत मुश्किल मालूम होता है। बहुतोंके शरीर ही गाँवकी कठिन चर्याको सहनेसे इनकार कर देते हैं। परंतु यदि हम स्वराज्यकी स्थापना जनताकी भलाई-के लिए करना चाहते हैं, सिर्फ शासकोंके मौजूदा दलकी जगह उनके जैसा ही कोई दूसरा दल––जो शायद उनसे भी बुरा सिद्ध हो––नहीं बैठाना चाहते, तो इस कठिनाईका मुकाबला हमें साहसके साथ ही नहीं बल्कि वीरताके साथ, अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर करना होगा। आजतक देहाती लोग, हजारों और लाखों की संख्यामें, हमारे जीवनका पोषण करनेके लिए मरते आये हैं, अब उनके जीवन-का पोषण करनेके लिए हमें मरना होगा। बेशक, उनके मरनेमें और हमारे मरनेमें बुनियादी फर्क होगा। वे बिन-जाने और अनिच्छापूर्वक मरे हैं। उनके इस विवश बलिदानने हमें गिराया है। अब यदि हम ज्ञानपूर्वक और इच्छापूर्वक मरेंगे, तो हमारा बलिदान हमें और हमारे साथ समूचे राष्ट्रको ऊपर उठायेगा। यदि हम

एक आजाद और स्वावलंबी देशकी तरह जीना चाहते हैं, तो इस आवश्यक बलिदान-से हमें अपना कदम पीछे नहीं हटाना चाहिए।[२]

मैं चाहता हूँ कि तुम (नवयुवक) गाँवोंमें जाओ और वहाँ जमकर बैठ जाओ— उनके मालिकों या उपकारकर्ताओंकी तरह नहीं, बल्कि उनके विनम्र सेवकोंकी तरह। तुम्हारी दैनिक चर्यासे और तुम्हारे रहन-सहनसे उन्हें समझने दो कि उन्हें खुद क्या करना है और अपना रहनेका ढंग किस तरह बदलना है। महज भावनाका कोई उपयोग नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे कि भापका अपने-आपमें कोई उपयोग नहीं है। भापको उचित नियंत्रणमें रखा जाय तभी उसमें ताकत पैदा होती है। यही बात भावनाकी है। मैं चाहता हूँ कि तुम भारतकी आहत आत्माके लिए शान्तिदायी लेप लेकर जानेवाले भगवान्‌के दूतोंकी तरह उनके बीचमें जा पहुँचो।[३]

गाँवोंकी बुरी हालतका कारण यह है कि जिन्हें शिक्षाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्होंने गाँवोंकी बहुत उपेक्षा की है। उन्होंने अपने लिए शहरी जीवन चुना है। ग्राम-आन्दोलन इसी बातका एक प्रयत्न है कि जो लोग सेवाकी भावना रखते हैं, उन्हें गाँवोंमें बसकर ग्रामवासियोंकी सेवामें लग जानेके लिए प्रेरित करके गाँवोंके साथ स्वास्थ्यप्रद संपर्क स्थापित किया जाय। जो लोग सेवाभावसे ग्रामोंमें बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयाँ देखकर हतोत्साह नहीं होते। वे तो इस बातको जानकर ही वहाँ जाते हैं कि अनेक कठिनाइयोंमें, यहाँतक कि गाँववालोंकी उदासीनताके होते हुए भी, उन्हें वहाँ काम करना है। जिन्हें अपने मिशनमें और खुद अपने-आपमें विश्वास है, वे ही गाँववालोंकी सेवा करके उनके जीवनपर कुछ असर डाल सकेंगे। सच्चा जीवन बिताना खुद ऐसा सबक है, जिसका आसपासके लोगोंपर जरूर असर पड़ता है। लेकिन ···जो सिर्फ अपने जीवन-निर्वाहके लिए रोजी कमानेको ही वहाँ जाते हैं, उनके लिए ग्राम-जीवनमें कोई आकर्षण नहीं है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। सेवाभावके बगैर जो लोग गाँवोंमें जाते हैं, उनके लिए तो उसकी नवीनता नष्ट होते ही ग्राम-जीवन नीरस हो जायगा।

गाँवोंमें जानेवाले किसी नवयुवकको कठिनाइयोंसे घबराकर कभी अपना रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। ···नवयुवकोंको मेरी सलाह है कि···वे अपना प्रयत्न छोड़ न दें, बल्कि उसमें लगे रहें और अपनी उपस्थितिसे गाँवोंको अधिक प्रिय और रहने योग्य बना दें। लेकिन यह वे करेंगे ऐसी सेवाके ही द्वारा, जो गाँववालोंके अनुकूल हो। अपने ही परिश्रमसे गाँवोंको अधिक साफ-सुथरा बनाकर और अपनी योग्यतानुसार गाँवोंकी निरक्षरता दूर करके हरएक व्यक्ति इसकी शुरुआत कर सकता है। और अगर उनके जीवन साफ, सुघड़ और परिश्रमी हों, तो इसमें कोई शक नहीं कि जिन गाँवोंमें वे काम कर रहे होंगे, उनमें भी उसकी छूत फैलेगी और गाँववाले भी साफ, सुघड़ और परिश्रमी बनेंगे।[४]

गाँवमें जितने लोग रहते हैं उन्हें पहचानना, उन्हें जो सेवा चाहिए वह देना,

अर्थात् उनके लिए साधन जुटा देना और उनको वह काम करना सिखा देना, दूसरे कार्यकर्ता पैदा करना आदि काम ग्रामसेवक करेगा। ग्रामसेवक ग्रामवासियों-पर इतना प्रभाव डालेगा कि वे खुद आकर उससे सेवा माँगेंगे, और उसके लिए जो साधन या दूसरे कार्यकर्ता चाहिए, उन्हें जुटानेके लिए उसकी पूरी मदद करेंगे। मानो कि मैं देहातमें घानी लगाकर बैठा हूँ, तो मैं घानीसे संबंध रखनेवाले सब काम तो कर ही लूँगा। मगर मैं सामान्य १५-२० रुपये कमानेवाला घांची (तेली) नहीं बनूँगा। मैं तो महात्मा घांची बनूँगा। 'महात्मा' शब्द मैंने विनोदमें इस्तेमाल किया है। इसका अर्थ केवल यह है कि अपने घांचीपनेमें मैं इतनी सिद्धि डाल दूँगा कि गाँववाले आश्चर्यचकित हो जायेंगे। मैं गीता पढ़नेवाला, कुरानशरीफ पढ़ने-वाला, उनके लड़कोंको शिक्षा दे सकनेकी शक्ति रखनेवाला घांची होऊँगा। समय-के अभावसे मैं लड़कोंको सिखा न सकूँ, यह दूसरी बात है। लोग आकर कहेंगे : "तेली महाशय, हमारे लड़कोंके लिए एक शिक्षक तो ला दीजियेगा।" मैं कहूँगा "शिक्षक मैं ला दूँगा, मगर उसका खर्च आपको बरदाश्त करना होगा।" वे खुशीसे उसका स्वीकार करेंगे। मैं उन्हें कातना सिखा दूँगा। जब वे बुनकरकी मददकी माँग करेंगे, तो शिक्षककी तरह उन्हें बुनकर ला दूँगा, ताकि जो चाहे सो बुनना भी सीख ले। उन्हें मैं ग्राम-सफाईका महत्त्व बताऊँगा। जब वे सफाईके लिए भंगी माँगेंगे तो मैं कहूँगा, मैं खुद भंगी हूँ, आइये आपको यह काम भी सिखा दूँ। यह है मेरी समग्र ग्रामसेवाकी कल्पना। आप कह सकते हैं कि इस युगमें तो ऐसा घांची पैदा नहीं होनेवाला है, तो मैं आपसे कहूँगा, तब इस युगमें ग्राम भी ऐसे-के-ऐसे रहनेवाले हैं।[५]

ग्रामसेवककी आवश्यक योग्यताएँ

ग्राम-उद्धारमें अगर सफाई न आये, तो हमारे गाँव कचरेके घूरे जैसे ही रहेंगे। ग्राम-सफाईका सवाल प्रजाके जीवनका अविभाज्य अंग है। यह प्रश्न जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी है। दीर्घ कालसे जिस अस्वच्छताकी आदत हमें पड़ गयी है, उसे दूर करनेके लिए महान् पराक्रमकी आवश्यकता है। जो सेवक ग्राम-सफाईका शास्त्र नहीं जानता, खुद भंगीका काम नहीं करता, वह ग्रामसेवाके लायक नहीं बन सकता।

नयी तालीमके बिना हिन्दुस्तानके करोड़ों बालकोंको शिक्षण देना लगभग असंभव है, यह चीज सर्वमान्य हो गयी कही जा सकती है। इसलिए ग्रामसेवकको उसका ज्ञान होना ही चाहिए। उसे नयी तालीमका शिक्षक होना चाहिए। इस तालीमके पीछे प्रौढ़-शिक्षण तो अपने-आप चला आयेगा। जहाँ नयी तालीमने घर कर लिया होगा, वहाँ बच्चे ही माता-पिताके शिक्षक बन जानेवाले हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवकके मनमें प्रौढ़-शिक्षण देनेकी लगन होनी चाहिए।

स्त्रीको अर्धांगिनी माना गया है। जबतक कानूनसे स्त्री और पुरुषके हक समान नहीं माने जाते, जबतक लड़कीके जन्मका लड़केके जन्म जितना ही स्वागत नहीं किया जाता है, तबतक समझना चाहिए कि हिन्दुस्तान लकवेके रोगसे ग्रस्त है। स्त्रीकी अवगणना अहिंसाकी विरोधी है। इसलिए ग्रामसेवकको चाहिए कि वह हर स्त्रीको माँ, बहन या बेटीके समान समझे और उसके प्रति आदर-भाव रखे। ऐसा ग्रामसेवक ही ग्रामवासियोंका विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

रोगी प्रजाके लिए स्वराज्य प्राप्त करना मैं असंभव मानता हूं। इसलिए हम लोग आरोग्य-शास्त्रकी जो अवगणना करते हैं, वह दूर होनी चाहिए। अतः ग्राम-सेवकको आरोग्य-शास्त्रका सामान्य ज्ञान होना चाहिए।

राष्ट्रभाषाके बिना राष्ट्र नहीं बन सकता। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू' के झगड़े-में न पड़कर ग्रामसेवक, अगर वह राष्ट्रभाषा नहीं जानता, उसका ज्ञान हासिल करे। उसकी बोली ऐसी होनी चाहिए, जिसे हिन्दू-मुसलमान सब समझ सकें।

हमने अंग्रेजीके मोहमें फँसकर मातृभाषाका द्रोह किया है। इस द्रोहके प्राय-श्चित्तके तौरपर भी ग्रामसेवक मातृभाषाके प्रति लोगोंके मनमें प्रेम उत्पन्न करेगा। उसके मनमें हिन्दुस्तानकी सब भाषाओंके लिए आदर होगा। उसकी अपनी मातृभाषा जो भी हो, जिस प्रदेशमें वह बसेगा, वहाँकी मातृभाषा वह स्वयं सीखकर अपनी मातृभाषाके प्रति वहाँके लोगोंकी भावना बढ़ायेगा।

अगर इस सबके साथ-साथ आर्थिक समानताका प्रचार न किया गया, तो यह सब निकम्मा समझना चाहिए। आर्थिक समानताका यह अर्थ हरगिज नहीं कि हरएकके पास धनकी समान राशि होगी। मगर यह अर्थ जरूर है कि हरएकके पास ऐसा घरबार, वस्त्र और खाने-पीनेका सामान होगा कि जिससे वह सुखसे रह सके। और जो घातक असमानता आज मौजूद है, वह केवल अहिंसक उपायोंसे ही नष्ट होगी।[५]

यह हिन्दुस्तानकी बदकिस्मती है कि जैसी दलबन्दी और मतभेद शहरोंमें है, वैसे ही देहातोंमें भी देखे जाते हैं। और जब गाँवोंकी भलाईका खयाल न रखते हुए अपनी पार्टीकी ताकत बढ़ानेके लिए गाँवोंका उपयोग करनेके खयालसे राजनीतिक सत्ता की बू हमारे देहातोंमें पहुँचती है, तो उससे देहातियोंको मदद मिलनेके बजाय उनकी तरक्कीमें रुकावट ही होती है। मैं तो कहूँगा कि चाहे जो नतीजा हो, हमें ज्यादा-से-ज्यादा मात्रामें स्थानीय मदद लेनी चाहिए। और अगर हम राजनीतिक सत्ता हड़पनेकी बुराईसे दूर रहें, तो हमारे हाथों कोई बुराई होनेकी संभावना नहीं रहती। हमें याद रखना चाहिए कि शहरोंके अंग्रेजी पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषोंने हिन्दुस्तानके आधारपर बने हुए गाँवोंको भुला देनेका गुनाह किया है। इसलिए आजतककी हमारी इस लापरवाहीको याद करनेसे हममें धीरज पैदा होगा। अभी-तक मैं जिस-जिस गाँवमें गया हूँ, वहाँ मुझे एक-न-एक सच्चा कार्यकर्ता मिला ही

है। लेकिन गाँवोंमें भी लेने लायक कोई अच्छी चीज होती है, ऐसा माननेकी नम्रता हममें नहीं है। और यही कारण है कि हमें वहाँ कोई नहीं मिलता। बेशक, हमें स्थानीय राजनीतिक मामलोंसे परे रहना चाहिए। लेकिन यह हम तभी कर सकते हैं, जब हम सारी पार्टियोंकी और किसी भी पार्टीमें शामिल न होनेवाले लोगोंकी सच्ची मदद लेना सीख जायेंगे।[७]

सुसंस्कृत घर जैसी कोई पाठशाला नहीं और ईमानदार तथा सदाचारी माता-पिता जैसे कोई शिक्षक नहीं। स्कूलोंमें मिलनेवाली प्रचलित शिक्षा गाँववालोंपर एक व्यर्थका बोझ है, जिसका उनके लिए कोई उपयोग नहीं है। उनके बच्चे उसे पानेकी आशा नहीं कर सकते। और भगवान्‌को धन्यवाद है कि यदि उन्हें सुसंस्कृत घरकी तालीम मिल सके, तो उन्हें कभी भी उसकी कमी खटकेगी नहीं। अगर ग्रामसेवक संस्कारवान् नहीं है, अगर वह अपने घरमें सुसंस्कृत वातावरण पैदा करनेकी क्षमता नहीं रखता, तो उसे ग्रामसेवक बननेकी, ग्रामसेवक होनेका सम्मान और अधिकार पानेकी, आकांक्षा छोड़ देनी चाहिए।[८]

अगर शारीरिक श्रमके साथ अकारण ही जो शर्मकी भावना जुड़ गयी है, वह दूर की जा सके, तो सामान्य बुद्धिवाले हरएक युवक और युवतीके लिए उन्हें जितना चाहिए, उससे कहीं अधिक काम पड़ा हुआ है।[९]...

...जो आदमी अपनी जीविका ईमानदारीसे कमाना चाहता है वह किसी भी श्रमको छोटा यानी अपनी प्रतिष्ठाको घटानेवाला नहीं मानेगा। महत्त्वकी बात यह है कि भगवान्‌ने हमें जो हाथ-पाँव दिये हैं, हम उनका उपयोग करनेके लिए तैयार रहें।[१०]

अपना सारा ज्ञान और पांडित्य तराजूके एक पलड़ेपर और सत्य तथा पवित्रताको दूसरे पलड़ेपर रखकर देखो। सत्य और पवित्रतावाला पलड़ा पहले पलड़ेसे कहीं भारी पड़ेगा। नैतिक अपवित्रताकी विषैली हवा आज हमारे विद्यार्थियोंमें भी जा पहुँची है और किसी छिपी हुई महामारीकी तरह उनकी भयंकर बरबादी कर रही है। इसलिए मैं तुम लोगोंसे अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने मन और शरीर पवित्र रखो। तुम्हारा सारा पांडित्य और शास्त्रोंका तुम्हारा सारा अध्ययन बिलकुल बेकार होगा, यदि तुम उनकी शिक्षाओंको अपने दैनिक जीवनमें उतार सको। मैं जानता हूँ कि शिक्षक भी ऐसे हैं जो पवित्र और स्वच्छ जीवन नहीं बिताते। उनसे मैं कहूँगा कि वे अपने छात्रोंको दुनियाका सारा ज्ञान सिखा दें, परन्तु यदि वे उनमें सत्य और पवित्रताकी लगन पैदा न करें, तो यही कहना होगा कि उन्होंने अपने छात्रोंका द्रोह किया है और उन्हें ऊपर उठानेके बजाय आत्मनाशके मार्गकी ओर प्रवृत्त किया है। चरित्रके अभावमें ज्ञान बुराईको ही बढ़ानेवाली शक्ति है, जैसा कि हम ऊपरसे भले दिखायी देनेवाले किन्तु भीतरसे चोरी और बेईमानीका धंधा करनेवाले अनेक लोगोंके मामलेमें देखते हैं।[११]

युवकोंको, जो भविष्यके विधाता होनेका दावा करते हैं, राष्ट्रका नमक —रक्षक तत्त्व—होना चाहिए। यदि यह नमक ही अपना खारापन छोड़ दे तो उसे खारा कैसे बनाया जाय ?[१२]

मेरी आशा देशके युवकोंपर है। उनमेंसे जो बुरी आदतोंके शिकार हैं, वे स्वभावसे बुरे नहीं हैं। वे उनमें लाचारीसे और बिना सोचे-समझे फँस जाते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि इससे उनका और देशके युवकोंका कितना नुकसान हुआ है। उन्हें यह भी समझना चाहिए कि कठोर अनुशासन द्वारा नियमित जीवन ही उन्हें और राष्ट्रको सम्पूर्ण विनाशसे बचा सकता है; कोई दूसरी चीज नहीं।

"सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें ईश्वरकी खोज करनी चाहिए। और प्रलोभनोंसे बचनेके लिए उसकी मदद माँगनी चाहिए। उसके बिना यंत्रकी तरह केवल अनुशासनका पालन करनेसे विशेष लाभ नहीं होगा। ईश्वरकी खोजका, उसके ध्यान और दर्शनका अर्थ यह भी है कि जिस तरह बालक बिना किसी प्रदर्शनकी आवश्यकताके अपनी माँके प्रेमको महसूस करता है, उसी तरह हम भी यह महसूस करें कि ईश्वर हमारे हृदयोंमें विराजमान है।[१३]

२२. आजाद भारतका लक्ष्य

मैं आजादी इसलिए नहीं चाहता कि मेरा बड़ा देश, जिसकी आबादी सम्पूर्ण मानव-जातिका पाँचवाँ हिस्सा है, दुनियाकी किसी भी दूसरी जातिका, या किसी भी व्यक्तिका शोषण करे। मैं अपनी शक्तिभर अपने देशको ऐसा अनर्थ नहीं करने दूंगा। यदि मैं अपने देशके लिए आजादी चाहता हूँ, तो मुझे यह मानना चाहिए कि प्रत्येक दूसरी सबल या निर्बल जातिको भी उस आजादीका वैसा ही अधिकार है। यदि मैं ऐसा नहीं मानता हूँ और ऐसी इच्छा नहीं करता हूँ, तो उसका यह अर्थ है कि मैं उस आजादीका पात्र नहीं हूँ।[१]

मेरी आकांक्षाका लक्ष्य स्वतंत्रतासे ज्यादा ऊँचा है। भारतकी मुक्तिके द्वारा मैं पश्चिमके भीषण शोषणसे दुनियाके कई निर्बल देशोंका उद्धार करना चाहता हूँ। भारतके अपनी सच्ची स्थितिको प्राप्त करनेका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि हरएक देश वैसा ही कर सकेगा और करेगा।[२]

मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि भारत अपनी स्वतंत्रता अहिंसक उपायोंसे प्राप्त करे, तो फिर वह बड़ी स्थलसेना, उतनी ही बड़ी जलसेना और उससे भी बड़ी वायुसेना रखनेकी इच्छा नहीं करेगा। यदि आजादीकी अपनी लड़ाईमें अहिंसक विजय प्राप्त करनेके लिए उसकी आत्म-चेतनाको जितनी ऊँचाईतक उठना चाहिए, उतनी ऊँचाईतक वह उठ सकी, तो दुनियाके माने

हुए मूल्योंमें परिवर्तन हो जायगा और लड़ाइयोंके साज-सामानका अधिकांश निरर्थक सिद्ध हो जायगा। ऐसा भारत भले महज एक सपना हो, बच्चोंकी जैसी कल्पना हो। लेकिन मेरी रायमें अहिंसाके द्वारा भारतके स्वतंत्र होनेका फलितार्थ तो बेशक यही होना चाहिए। ·····तब उसकी आवाज दुनियाके सारे हिंसक दलोंको नियंत्रणमें रखनेकी कोशिश करनेवाले एक शक्तिशाली देशकी आवाज होगी।[३]

मैं अपने हृदयकी गहराईमें यह महसूस करता हूँ···कि दुनिया रक्तपातसे बिलकुल ऊब गयी है। दुनिया इस असह्य स्थितिसे बाहर निकलनेका रास्ता खोज रही है। और मैं विश्वास करता हूँ तथा उस विश्वासमें सुख और गर्व अनुभव करता हूँ कि शायद मुक्तिके प्यासे जगत्‌को यह रास्ता दिखानेका श्रेय भारतकी प्राचीन भूमिको ही मिलेगा।[४]

हिन्दुस्तानकी राष्ट्रीय सरकार क्या नीति अख्तियार करेगी सो मैं नहीं कह सकता। संभव है कि अपनी प्रबल इच्छाके रहते हुए भी मैं तबतक जीवित न रहूँ। लेकिन अगर उस वक्ततक मैं जिन्दा रहा, तो अपनी अहिंसक नीतिको यथासंभव संपूर्णताके साथ अमलमें लानेकी सलाह दूँगा। विश्वकी शांति और नयी विश्व-व्यवस्थाकी स्थापनामें यही हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा हिस्सा भी होगा। मुझे आशा तो यह है कि चूँकि हिन्दुस्तानमें इतनी लड़ाकू जातियाँ हैं और चूँकि स्वतंत्र हिन्दुस्तानकी सरकारके निर्णयमें उन सबका हिस्सा होगा, इसलिए हमारी राष्ट्रीय नीतिका झुकाव मौजूदा सैन्यवादसे भिन्न किसी अन्य प्रकारके सैन्यवादकी तरफ होगा। मैं यह उम्मीद तो जरूर करूँगा कि एक राजनीतिक शस्त्रकी हैसियतसे अहिंसाकी व्यावहारिक उपयोगिताका हमारा पिछला सारा ···प्रयोग बिलकुल विफल नहीं जायगा और सच्चे अहिंसावादियोंका एक मजबूत दल हिन्दुस्तानमें पैदा हो जायगा।[५]

जब भारत स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जायगा और इस तरह न तो खुद किसीकी संम्पत्तिका लोभ करेगा और न अपनी सम्पत्तिका शोषण होने देगा, तब वह पश्चिम या पूर्वके किसी भी देशके लिए——उसकी शक्ति कितनी भी प्रबल क्यों न हो——लालचका विषय नहीं रह जायगा और तब वह खर्चीले शस्त्रास्त्रोंका बोझ उठाये बिना ही अपनेको सुरक्षित अनुभव करेगा। उसकी यह भीतरी स्वाश्रयी अर्थ-व्यवस्था बाहरी आक्रमणके खिलाफ सुदृढ़तम ढाल होगी।[६]

दुनियाके सुविचारशील लोग आज ऐसे पूर्ण स्वतंत्र राज्योंको नहीं चाहते जो एक-दूसरेसे लड़ते हों, बल्कि एक-दूसरेके प्रति मित्रभाव रखनेवाले अन्योन्याश्रित राज्योंके संघको चाहते हैं। भले ही इस उद्देश्यकी सिद्धिका दिन बहुत दूर हो। मैं अपने देशके लिए कोई भारी दावा नहीं करना चाहता। लेकिन यदि हम पूर्ण स्वतंत्रताके बजाय अन्योन्याश्रित राज्योंके विश्वसंघकी तैयारी जाहिर

करें, तो इसमें हम न तो कोई बहुत भारी बात ही कहते हैं और न वह असंभव ही है।[७]

सच्चा देश-प्रेम

मेरे लिए देश-प्रेम और मानव-प्रेममें कोई भेद नहीं है; दोनों एक ही हैं। मैं देश-प्रेमी हूं, क्योंकि मैं मानव-प्रमी हूँ। मेरा देश-प्रेम वर्जनशील नहीं है। मैं भारतके हितकी सेवाके लिए इंग्लैंड या जर्मनीका नुकसान नहीं करूँगा। जीवनकी मेरी योजनामें साम्राज्यवादके लिए कोई स्थान नहीं है। देश-प्रेमीकी जीवन-नीति किसी कुल या कबीलेके अधिपतिकी जीवन-नीतिसे भिन्न नहीं है। और यदि कोई देश-प्रेमी उतना ही उग्र मानव-प्रेमी नहीं है, तो कहना चाहिए कि उसके देश-प्रेममें उतनी न्यूनता है। वैयक्तिक आचरण और राजनीतिक आरचणमें कोई विरोध नहीं है; सदाचारका नियम दोनोंको लागू होता है।[८]

जिस तरह देश-प्रेमका धर्म हमें आज यह सिखाता है कि व्यक्तिको परिवारके लिए, परिवारको ग्रामके लिए, ग्रामको जनपदके लिए और जनपदको प्रदेशके लिए मरना सीखना चाहिए, इसी तरह किसी देशको स्वतंत्र इसलिए होना चाहिए कि वह आवश्यकता होनेपर ससारके कल्याणके लिए अपना वलिदान दे सके। इसलिए राष्ट्रवादीकी मेरी कल्पना यह है कि मेरा देश इसलिए स्वाधीन हो कि प्रयोजन उपस्थित होनेपर सारा ही देश मानव-जातिकी प्राण-रक्षाके लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युका आलिंगन करे। उसमें जातिद्वेषके लिए कोई स्थान नहीं है। मेरी कामना है कि हमारा राष्ट्र-प्रेम ऐसा ही हो।[९]

मैं भारतका उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि सारी दुनिया उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता कि भारतका उत्थान दूसरे देशोंके नाशकी नींवपर हो।[१०]

मेरा देश-प्रेम कोई बहिष्कारशील वस्तु नहीं, बल्कि अतिशय व्यापक वस्तु है और मैं उस देश-प्रेमको वर्ज्य मानता हूँ जो दूसरे राष्ट्रको तकलीफ देकर या उनका शोषण करके अपने देशको उठाना चाहता है। देश-प्रेमकी मेरी कल्पना यह है कि वह हमेशा, विना किसी अपवादके हरएक स्थितिमें, मानव-जातिके विशालतम हितके साथ सुसंगत होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो देश-प्रेमकी कोई कीमत नहीं। इतना ही नहीं, मेरे धर्म और उस धर्मसे ही प्रसूत मेरे देश-प्रेमके दायरेमें प्राणिमात्रका समावेश होता है। मैं न केवल मनुष्य नामसे पहचाने जानेवाले प्राणियोंके साथ भ्रातृत्व और एकात्मता सिद्ध करना चाहता हूँ, बल्कि समस्त प्राणियोंके साथ——रेंगनेवाले साँप आदि जैसे प्राणियोंके साथ भी——उसी एकात्मताका अनुभव करना चाहता हूँ। कारण, हम सब उसी एक स्रष्टाकी सन्तति होनेका दावा करते हैं और इसलिए सब प्राणी, उनका रूप कुछ भी हो, मूलमें एक ही हैं।[११]

सार्वजनिक जीवनके लगभग ५० वर्षके अनुभवके बाद आज मैं यह कह सकता हूँ कि अपने देशकी सेवा दुनियाकी सेवासे असंगत नहीं है---इस सिद्धान्तमें मेरा विश्वास बढ़ा ही है। यह एक उत्तम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तको स्वीकार करके ही दुनियाकी मौजूदा कठिनाइयाँ आसान की जा सकती हैं और विभिन्न राष्ट्रोंमें जो पारस्परिक द्वेषभाव नजर आता है उसे रोका जा सकता है।[१२]

अगर हिन्दुस्तान अपने फर्जको भूलता है तो एशिया मर जायगा। यह ठीक ही कहा गया है कि हिन्दुस्तान कई मिली-जुली सभ्यताओं या तहजीबोंका घर है, जहाँ वे सब साथ-साथ पनपी हैं। हम सब ऐसे काम करें कि हिन्दुस्तान एशियाकी या दुनियाके किसी भी हिस्सेकी कुचली और चूसी हुई जातियोंकी आशा बना रहे।[१३]

अगर आप पश्चिमको कोई पैगाम देना चाहते हैं, तो वह प्रेम और सत्यका पैगाम होना चाहिए।...जमहूरियतके इस जमानेमें, गरीबकी जागृतिके इस युगमें, आप ज्यादासे ज्यादा जोर देकर इस पैगामकी जागृतिका दुनियामें प्रचार कर सकते हैं। चूँकि आपका शोषण किया गया है, इसलिए उसका उसी तरह बदला चकाकर नहीं, बल्कि सच्ची समझदारीके जरिये आप पश्चिमपर पूरी तरहसे विजय पा सकते हैं। अगर हम सिर्फ अपने दिमागोंसे नहीं, बल्कि दिलोंसे भी इस पैगामके मर्मको, जिसे एशियाके विद्वान् हमारे लिए छोड़ गये हैं, एक साथ समझनेकी कोशिश करें और अगर हम सचमुच उस महान् पैगामके लायक बन जायँ, तो मुझे विश्वास है कि हम पश्चिमको पूरी तरहसे जीत लेंगे। हमारी इस जीतको पश्चिम खुद भी प्यार करेगा।

पश्चिम आज सच्चे ज्ञानके लिए तरस रहा है। अणु-बमोंकी दिन-दूनी बढ़ती से वह नाउम्मीद हो रहा है। क्योंकि अणु-बमोंके बढ़नेसे सिर्फ पश्चिमका ही नहीं, बल्कि पूरी दुनियाका नाश हो जायगा; मानो बाइबलकी भविष्य-वाणी सच होने जा रही है और पूरी कयामत होनेवाली है। अब यह आपके ऊपर है कि आप दुनियाकी नीचता और पापोंकी तरफ उसका ध्यान खींचें और उसे बचायें।[१४]

सन्दर्भकी कुंजी

[ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर प्रकरणोंके अन्तर्गत जो अंक हैं, वे सन्दर्भोंके सूचक हैं। सन्दर्भ-सूचीमें उन अंकोंके सामने सन्दर्भ-स्थलोंका निर्देश है। सन्दर्भ-स्थलोंका निर्देश प्रारंभिक अक्षरोंमें है। इस सन्दर्भ-कुंजीमें सन्दर्भ-स्थलोंके संकेतोंका स्पष्टीकरण और सम्पूर्ण उल्लेख है।]

चु० प०	चुने हुए पत्र (सिलेक्टेड लेटर्स); नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद
यं० इं०	यंग इंडिया (अंग्रेजी साप्ताहिक)
भा० ले०	भाषण और लेख (स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी)
ह०	हरिजन (अंग्रेजी साप्ताहिक)
हि० न० जी०	हिन्दी नवजीवन साप्ताहिक
ह० से०	हरिजनसेवक (हिन्दी साप्ताहिक)
म०	महात्मा : तेंदूलकर (अंग्रेजी)
मं० प्र०	मंगल प्रभात (नवजीवन)
सिले०	सिलेक्शन्स फ्रॉम गांधी (१९४८); निर्मलकुमार बोस
हि० स्व०	हिन्द स्वराज्य
र० का०	रचनात्मक कार्यक्रम (नवजीवन प्रकाशन)
मा० म० गां०	माइन्ड ऑफ महात्मा गांधी : राव
मा० रि०	दि माडर्न रिव्यू (अंग्रेजी मासिक)
अ० बा० प०	अमृत बाजार पत्रिका (अंग्रेजी दैनिक, कलकत्ता)
बा० क्रा०	दि बाम्बे क्रानिकल (अंग्रेजी दैनिक, बम्बई)
ग्रा० उ० प०	ग्राम उद्योग पत्रिका (मासिक)
दि० डा०	दिल्ली डायरी (स० सा० मंडल)
स० सा० अ०	सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका
स० आ० इ०	सत्याग्रह आश्रम का इतिहास
स० शि०	सच्ची शिक्षा (नवजीवन)
हि० सा० स०	हिन्दी साहित्य सम्मेलन
गु० शि० प०	गुजरात शिक्षा परिषद्
आ० कुं०	आरोग्य की कुंजी (मो० क० गांधी)
म० डा०	महादेवभाई डायरी
व० व्य०	वर्ण-व्यवस्था (मो० क० गांधी)
इं० के० फा० स्व०	इंडियाज केस फार स्वराज
गां० इ० इं० वि०	गांधीजी इन इंडियन विलेजेज

सन्दर्भ-सूची

प्रकरण–१

१. चु० प० (१), ४०
२. यं० इं० २१ फर २९
३. यं० इं० ५ फर २४
४. यं० इं० ६ अग २५
५. यं० इं० ११ अग २०
६. भा० लें० : पृ० ४०५
७. ह० २५ जन ४२
८. हि० न० जी० ७ अक २६
९. यं० इं० १७ सितं २५
१०. यं० इं० ११ अग २७
११. यं० इं० ३० अप्रैल ३१
१२. यं० इं० ११ अग २०
१३. यं० इं० २२ जून २१
१४. यं० इं० ४ जुलाई २९
१५. यं० इं० २ जन ३०
१६. यं० इं० १० सितं ३१
१७. यं० इं० ६ अप्रैल २१
१८. यं० इं० ११ अग २०

प्रकरण–२

१. यं० इं० १९ मार्च ३१
२. हि० न० जी० २९ जन २५
३. हि० न० जी० ८ दिसं २७
४. यं० इं० २६ मार्च ३१
५. यं० इं० १६ अप्रैल ३१
६. यं० इं० ५ मार्च ३१
७. यं० इं० २६ मार्च ३१
८. ह० २ जन ३७
९. यं० इं० २३ जन ३०
१०. ह० २७ मई ३९
११. ह० २५ मार्च ३९
१२. ह० से० १२ नवं ३८
१३. ह० से० १८ मई ४०
१४. ह० ११ जन ३६
१५. ह० १८ जन ४८
१६. यं० इं० ६ अग २४

प्रकरण–३

१. पं० नेहरू को लिखे पत्र से अक ४५
२. ह० से० २८ जुलाई ४६
३. ह० १ जुलाई ४७
४. ह० ४ अप्रैल ३६
५. भा० लें० : पृ० ३२३
६. यं० इं० ३० मार्च ३१
७. ह० १९ अक ३७
८. हि० न० जी० १९ मार्च २२
९. ह० ११ अप्रैल ३६
१०. ह० १६ मार्च ३६
११. ह० १६ मई ३६
१२. ह० ७ मार्च ३६
१३. यं० इं० २३ मार्च २१
१४. ह० २७ फर ३७
१५. बा० क्रा० २८ अक ४४
१६. बा० क्रा० १२ जन ४५
१७. ग्रा० उ० प० जुलाई ४६

प्रकरण–४

१. ह० से० २० जन ४०
२. ह० से० २९ अग ३६
३. ह० से० २ अग ४२

४. ह० से० १० नवं ४६
५. ह० २८ जन ३९
६. ह० ४ अग ४६
७. म० खंड ४, पृ० १४४
८. ह० से० २९ अग ३६
९. ह० से० ३० नवं ३४
१०. ह० से० २३ नवं ३४

प्रकरण—५

१. यं० इं० २५ जुलाई २९
२. एम० एन० चटर्जी द्वारा 'कम्यूनिटी सर्विस न्यूज' सितंबर-अक्तूबर '४६ में उद्धृत, ला० फे० पृ० ५८५-५८६
३. ह० २९ सितं० ४०
४. ह० ४ नवं ३९
५. ह० १३ जन ४०
६. यं० इं० १५ नवं २८
७. ह० २ नवं ३४
८. मा० म० गां० १२१
९. ह० २ नवं ३४
१०. सिले० : पृ० ६४-६५
११. हिं० न० जी० २ नवं २४
१२. हिं० न० जी० ५ नवं २५
१३. यं० इं० १७ जून २६
१४. ह० से० २० सितं ३५
१५. ह० २९ अग ३६
१६. ह० १ सितं ४६
१७. ह० से० १८ अक ४२
१८. ह० ३० दिसं ३९
१९. ह० १ सितं ४६
२०. लुई फिशर 'ए वीक विथ गांधी' (१९४४), पृ० ६४; ला० फे० पृ० ६१४
२१. ह० ३० दिसं ३९

प्रकरण—६

१. ह० १९ दिसं ३६
२. यं० इं० ११ अप्रैल २९
३. मं० प्र० : प्र० ९, पृ० ४१—४४
४. ह० से० ५ जुलाई ३५
५. ह० १ जून ३५
६. ह० २९ जून ३५
७. ह० २९ जून ३५
८. ह० से० १४ सितं ३४

प्रकरण—७

१. सिले० : पृ० ३९
२. मं० प्र० : प्र० ६, पृ० ३१
३. यं० इं० २४ जून २६
४. मं० प्र० : प्र० ६, पृ० २९-३०
५. भा० ले० : पृ० ३८४
६. हिं० स्व० : प्र० १३, पृ० ४५-४६

प्रकरण—८

१. यं० इं० १५ नवं २८
२. यं० इं० १३ अक २१
३. ह० ९ अक ३७
४. ह० १५ जन ३८
५. र० का० : पृ० ४०-४१
६. ह० से० २४ अग ४०
७. मा० रि० १९३५, पृ० ४१२
८. ह० ३ दिसं ३८
९. ह० ७ जन ३९
१०. ह० १६ दिसं ३९
११. ह० १ फर ४२

प्रकरण—९

१. ह० २० फर ३७
२. ह० २ जन ३७

३. ह० से० २० अप्रैल ४०
४. अ० बा० प० २ अग ३४
५. ह० १३ मार्च ३७
६. यं० इं० १५ नवं २८
७. ह० से० ३१ मार्च ४६
८. ह० से० १३ जुलाई ४७
९. अ० बा० प० २ अग ३४
१०. अ० बा० प० ३ अग ३४
११. ह० ५ दिसं ३६
१२. ह० १९ अक ३५
१३. यं० इं० ५ दिसं २९

प्रकरण—१०

१. यं० इं० ४ अप्रैल २९
२. सिले० : पृ० ५९
३. यं० इं० २१ जुलाई २०
४. यं० इं० ८ दिसं २१
५. ह० से० ३० अक ३७
६. यं० इं० १७ सितं २५
७. ह० १३ अप्रैल ४०
८. र० का० : पृ० २०-२१-२२
९. यं० इं० २० मई २६
१०. यं० इं० २० अक २१
११. र० का० : पृ० २६-२७
१२. ह० से० २५ जन ३५
१३. ह० से० २८ अप्रैल ४६
१४. यं० इं० ६ अक २१
१५. ह० से० २१ सितं ४०
१६. यं० इं० ६ अक २१
१७. ह० से० ३१ अग ४७
१८. ह० से० २२ फर ४२
१९. यं० इं० ७ जुलाई २७
२०. ह० से० १५ फर ४२
२१. र० का० : पृ० २७-२८
२२. ह० से० १६ जन ३७
२३. ह० से० १५ फर ३५
२४. दि० डा० : पृ० २८६-८७
२५. ह० २८ दिसं ४७
२६. स० सा० अ० : पृ० २४०
२७. ह० से० १५ फर ३५
२८. ह० से० १६ जन ३७
२९. ह० से० २ जून ४६
३०. ह० से० १ सितं ४६
३१. ह० से० १५ सितं ४६
३२. ह० से० १५ जून ४७
३३. यं० इं० २६ दिसं २४
३४. यं० इं० १९ नवं २५
३५. यं० इं० २६ नवं २५
३६. भा० ले० : पृ० ३७५-७६
३७. यं० इं० २८ मार्च २९
३८. ह० १८ फर ३९

प्रकरण—११

१. यं० इं० १ सितं २१
२. ह० ९ अक ३७
३. ह० से० १५ मार्च ३५
४. ह० ८ मई ३७
५. ह० २८ अग ३७
६. ह० ११ सितं ३७
७. र० का० : पृ० २८-२९
८. ह० ६ अप्रैल ४०
९. यं० इं० १ सितं २१
१०. ह० ३१ जुलाई ३७
११. यं० इं० २ अग २८
१२. ह० २ अक ३७
१३. ह० से० ९ जुलाई ३८
१४. ह० २ नवं ४७
१५. स० आ० इ० '५९, पृ० ६९-७०, ७२
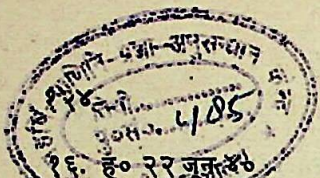
१६. ह० २२ जून ४६
१७. हि० न० जी० २५ अग २७
१८. यं० इं० ६ अग २५

प्रकरण—१२

१. ह० से० ९ जुलाई ३८
२. स० शि० : प्र० २, पृ० ११—१७
३. २७ दिसं '१७, कलकत्ता, समाज-सेवा परिषद्, अध्यक्षीय भाषण
४. यं० इं० २७ अप्रैल २१
५. हि० स्व० १९५९, पृ० ७४-७५
६. यं० इं० १ जून २१
७. हि० न० जी० २ सितं २१
८. हि० न० जी० ५ जुलाई २८
९. ह० से० ९ जुलाई ३८
१०. यं० इं० १ सितं २१
११. र० का० : पृ० ३७-३८
१२. ह० से० २५ अग ४६
१३. ह० से० २१ सितं ४७
१४. यं० इं० १३ मई २६

प्रकरण—१३

१. यं० इं० २७ अग २५
२. गु० शि० प० अध्यक्षीय भा० २० अक १७
३. यं० इं० १६ जून २०
४. र० का० : पृ० ३९
५. यं० इं० २ फर २१
६. यं० इं० १८ जून ३१
७. हि० सा० स०, इन्दौर, १९३५
८. यं० इं० २ फर २१
९. हि० सा० स०, इन्दौर, १९३५

प्रकरण—१४

१. म०, ४, ७३
२. हि० न० जी० १२ मार्च २५
३. आ० कुं० १९५९, पृ० ३७-३८
४. सिले० : पृ० १८
५. म० डा०—१, ३२०
६. ह० २८ मार्च ३६
७. ह० २ मई ३६
८. अ० बा० प० १२ जन ३५
९. यं० इं० २ अप्रैल २५
१०. ह० से० २० सितं ३५
११. ह० से० ३१ मार्च ४६

प्रकरण—१५

१. यं० इं० २५ जून ३१
२. यं० इं० ८ जून २१
३. यं० इं० १२ जन २८
४. ह० ९ मार्च ३४
५. यं० इं० ३ मार्च २७
६. यं० इं० १५ सितं २७
७. यं० इं० ४ अप्रैल २९
८. यं० इं० १२ जन २१
९. यं० इं० ४ फर २६
१०. आ० कुं० : पृ० २८-२९-३०
११. मा० ले० : पृ० ३८७
१२. ह० ११ फर ३३
१३. यं० इं० २५ मई २१
१४. यं० इं० २९ जुलाई २६
१५. यं० इं० ५ जन २२
१६. मं० प्र० : प्र० ९, पृ० ४३-४४

प्रकरण—१६

१. मा० रि० १९३५, पृ० ४१३
२. यं० इं० २७ अक २७
३. व० व्य० १९५९, पृ० ४९-५०
४. ह० १६ नवं ३५

५. ह० ११ फर ३३
६. यं० इं० ५ जन २१

प्रकरण–१७

१. र० का० : पृ० ३२–३४
२. भा० ले० : पृ० ४२४
३. भा० ले० : पृ० ४२५
४. यं० इं० १७ अक २९
५. ह० २ दिसं ३९
६. स० शि० १९५९, पृ० १५८–६१
७. ह० २७ फर ३७
८. ह० २२ मई ३६
९. यं० इं० २१ जून २८

प्रकरण–१८

१. यं० इं० ११ फर २०
२. भा० ले० : पृ० १०४९
३. यं० इं० १६ फर २१
४. ह० से० ११ अग ४६
५. यं० इं० ११ फर २०
६. भा० ले० : पृ० १०४६
७. यं० इं० १४ जन ३२
८. ह० से० ६ जुलाई ४७

प्रकरण–१९

१. ह० से० १८ जून ३८
२. ह० से० ५ मई ४६
३. यं० इं० २९ मई २४
४. ह० से० १४ सितं ४०

प्रकरण–२०

१. यं० इं० ७ मई ३१
२. यं० इं० २ फर २१
३. यं० इं० २६ जन २२
४. यं० इं० २ मार्च ३२
५. ह० १ फर ४२
६. यं० इं० ५ जन २२
७. यं० इं० १५ दिसं २१
८. यं० इं० २४ मार्च २०
९. यं० इं० ३ नवं २१
१०. यं० इं० २० अक २७
११. ह० १५ अप्रैल ३३
१२. भा० ले० : पृ० ४७६
१३. यं० इं० २८ अप्रैल २०
१४. यं० इं० २ फर २१
१५. यं० इं० २ अप्रैल ३१
१६. ह० से० २७ मई ३९
१७. ह० १८ मार्च ३९
१८. ह० से० १८ मार्च ३९
१९. ह० २१ अप्रैल ४६
२०. ह० १३ अक ४०
२१. ह० ६ मई ३३
२२. यं० इं० २२ सितं २०
२३. यं० इं० २८ जुलाई २०
२४. यं० इं० ८ सितं २०
२५. यं० इं० २३ फर २१
२६. ह० ११ जन ३६
२७. मा० रि० १९३५, पृ० ४१२
२८. यं० इं० २ जुलाई ३१
२९. ह० से० १५ सितं ४६

प्रकरण–२१

१. यं० इं० ७ नवं २९
२. यं० इं० १७ अप्रैल २४
३. यं० इं० २९ दिसं २७
४. ह० से० २० फर ३७
५. ह० से० १७ मार्च ४६
६. ह० से० २ मार्च ४७
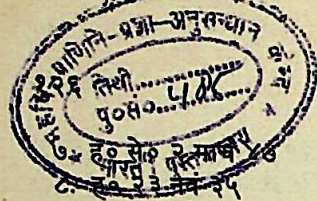
७. ह० से० २ मार्च ४७
८. ह० २३ नवं ३५
९. ह० १ मार्च ३५
१०. ह० १९ दिसं ३६
११. यं० इं० २१ फर २९
१२. यं० इं० २२ दिसं २७
१३. यं० इं० ९ जुलाई २५

प्रकरण–२२

१. यं० इं० १ अक ३१
२. यं० इं० १२ जन २८
३. यं० इं० ६ मई २९
४. इं० के० फा० स्व० : पृ० २०९
५. ह० से० २१ जून ४२
६. यं० इं० २ जुलाई ३१
७. यं० इं० २६ दिसं २४
८. यं० इं० १६ मार्च २१
९. गां० इं० इं० वि० : पृ० १७०
१०. यं० इं० १२ मार्च २५
११. यं० इं० ४ अप्रैल २९
१२. ह० १७ नवं ३३
१३. दि० डा० : पृ० ३२
१४. ह० से० २० अप्रैल ४७

गांधीजी विषयक रचनाएँ

महादेवभाई की डायरी

इन डायरियोंमें स्व० महादेवभाईने गांधीजीके दैनन्दिन कार्यों, कार्यक्रमों, दिनचर्या, चर्चा-वार्ता, सफर आदिका बड़ा ही रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। डायरियोंके अबतक आठ खंड प्रकाशित हो चुके हैं। अभी लगभग १२ खंड और प्रकाशित होंगे।

सन् १९१७ से सन् १९४२ तकके २५ वर्षोंका, गांधीजीके तेजस्वी कार्य-कलापोंका सजीव चित्रण ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अग्रिम ग्राहक बनाये जाते हैं। प्रत्येक खंडका मूल्य ८ रुपये।

गांधीजी और राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ

– शंकरलाल बैंकर –

गांधीजीके सम्पर्कमें रहकर उनका उल्लेख्य मार्गदर्शन पाकर देशमें महत्त्व-पूर्ण काम करनेवालोंमें श्री शंकरलाल बैंकरका प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'गांधीजी अने राष्ट्रीय प्रवृत्ति' नामक अपनी गुजराती पुस्तकमें बापूके संस्मरण और अनुभव संकलित किये हैं। यह पुस्तक उसीका हिन्दी रूपान्तर है।

लेखकने पुस्तकको चार भागोंमें बाँटा है। पहला भाग १९१४ से १९२२ का कालखण्ड है, जिसमें असहयोग और सत्याग्रहका विवरण है। १९२२ से १९२३ के कालखण्डके दूसरे भागमें यरवदा-जेलके अनुभव हैं। १९२३ से १९३९ के तीसरे भागमें उनके खादी-कार्य एवं खादी-प्रवृत्तिपर प्रकाश है। चौथे भागमें खादी-काम और खादी-प्रवृत्तिका प्रचारसम्बन्धी वर्णन है। पुस्तककी हर पंक्तिमें बापूके पवित्र जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। पृष्ठ ५३२, मूल्य १०.००।

बापू की मीठी-मीठी बातें (दो भागों में)

– साने गुरुजी –

मराठी-वाङ्मयके कोमल-करुण कलाकार, आदर्श शिक्षक स्व० साने गुरुजीकी लेखनीका यह प्रसाद हिन्दी पाठकों, खासकर किशोर वयके बालकोंको खूब ही मीठा-मीठा और जायकेदार लगेगा।

पुस्तकके पहले भागके ५ खण्डोंमें गांधीजीकी ५८ प्रेरक-उद्बोधक और जीवनदायी घटनाओंका चित्रण सीधी, सरल भाषामें हुआ है, तो दूसरे भागके ५ खण्डोंमें वैसी ही ६३ घटनाओंका रोचक वर्णन है।

पहला भाग : पृष्ठ १५६ — मूल्य : १.५०
दूसरा भाग : पृष्ठ १३६ — मूल्य : १.५०

मननीय एवं पठनीय साहित्य

लोकनीति	विनोबा	२.००
सर्वोदय-विचार व स्वराज्य-शास्त्र	"	१.२५
क्रान्त दर्शन	"	२.००
मधुकर	"	१.००
स्थायी समाज-व्यवस्था	जो० कॉ० कुमारप्पा	२.५०
गाँव-आन्दोलन क्यों ?	"	२.५०
ग्राम-सुधार की एक योजना	"	०.७५
सर्वोदय-दर्शन	दादा धर्माधिकारी	५.००
अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया	"	४.००
स्त्री-पुरुष सहजीवन	"	२.५०
लोकनीति-विचार	"	२.००
लोकतन्त्र : विकास और भविष्य	"	२.००
चुनाव और लोकतन्त्र	(संकलन)	०.७५
समग्र ग्राम-सेवा की ओर (तीन खण्ड)	धीरेन्द्र मजूमदार	६.००
मेरा गाँव (संस्मरण)	बबलभाई महेता	२.५०
गुजरात के महाराज	"	२.००
सहजीवी गाँव : इजराइल का एक प्रयोग	युसुफ बरात्ज	३.००
नक्षत्रों की छाया में	श्रीकृष्णदत्त भट्ट	१.५०
विशुद्धात्मा वल्लभस्वामी	(संकलन)	२.००
मेरा निर्माण और विकास	नानाभाई भट्ट	२.२५
किशोरलालभाई की जीवन-साधना	नरहरिभाई	२.००
समय और हम (४५० प्रश्नोत्तर)	जैनेन्द्रकुमार	१२.००
समन्वय-संस्कृति की ओर	काका कालेलकर	४.००
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	शंकरराव देव	०.२५

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

मननीय-साहित्य

अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया

सर्वोदय दर्शन

समय और हम — १

समन्वय-संस्कृति की ओर

बापू की गोद में — २–५०

समग्र ग्राम-सेवा की ओर — ६–००

लोकनीति — २–००

लोकनीति की ओर — २–००

लोक-स्वराज — ०–६०

लोकतंत्र : विकास और भविष्य — २–००

गांव का विद्रोह — १–२५

गांव-आन्दोलन क्यों ? — २–५०

स्थायी समाज व्यवस्था — २–५०

आजादी की मंजिलें — ४–००

सत्याग्रह-विचार और युद्धनीति — ३–००

स्त्री-पुरुष सहजीवन — २–५०

आदि-आदि